...रण ५२००
१९ जून, १९८८
(श्रुत पचमी)

मूल्य पांच रुपये मात्र

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय
[illegible]

पण्डित प्रवर श्री दौलतराम जी कृत छहढाला की चौथी ढाल पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन प्रकाशित करते हुऐ हमे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

छहढाला दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक लोकप्रिय सरल एव बोधगम्य ग्रन्थ है। अध्यात्मरस से भरपूर यह ग्रन्थ 'गागर मे सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। आज भी दिगम्बर जैन समाज मे सैकडो नर-नारियो को यह ग्रथ कठस्थ है तथा दिगम्वर समाज के सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम मे यह सम्मिलित है।

समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो की भाति छहढाला भी पूज्य स्वामीजी को अत्यन्त प्रिय था तथा इस पर उन्होने प्रवचन करके इसका मर्म जन-जन तक पहुचाया है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गये हैं। वर्तमान मे दृष्टिगोचर दिगम्वर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच नही हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित इकसठ दिगम्वर जिन-मदिर एव लाखो की सख्या मे प्रकाशित सत्साहित्य हमे हजारो वर्षों तक सत्य का दर्शन कराता रहेगा।

श्री षट्खण्डागम भाग १, समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, बृहद्द्रव्यसग्रह, मोक्षमार्गप्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दि

पचविंशतिका, समयसारकलशटीका, नाटकसमयसार छहढाला आदि अनेक ग्रथों पर प्रवचनो के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तु-स्वातन्त्र्य, कर्ताकर्म-सम्बन्ध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त-उपादान आदि जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तो की आगम एव युक्तिसगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनो के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली – स्याद्वाद, निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन मे चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ रहस्यो का सागोपाग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एव उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

स्वाध्याय के क्षेत्र मे पूज्य स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनो के प्रभाव से समाज मे स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नयविवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्ही की देन है।

छहढाला गन्थ पर उन्होने गुजराती भाषा मे प्रवचन किये थे, जिनका सकलन स्व ब्र०हरिलाल ने वीतराग-विज्ञान के नाम से किया था। लेखक महोदय ने प्रवचनो मे आये विषयो को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्हे प्रश्नोत्तर के रूप मे विभाजित किया है जो कि इसी ग्रन्थ के अन्त मे दिये गये हैं। इतने सुन्दर सकलन के लिए स्व हरिभाई मुमुक्ष समाज मे सदैव स्मरणीय रहेगे।

प्रत्येक ढाल के प्रवचनो का सकलन एक-एक भाग के रूप मे सोनगढ से प्रकाशित हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद भी वीतराग-विज्ञान भाग १,२,३ के रूप मे सोनगढ से प्रकाशित हो चुका है। चौथे भाग का अनुवाद पडित गभीरचन्दजी जैन अलीगज वालो द्वारा किया गया है।

पडित गम्भीरचन्दजी अत्यन्त सरल हृदय के गहन स्वाध्यायी सज्जन हैं तथा साहित्य प्रचार के कार्यों मे भरपूर सहयोग देते है। हमारे अनुरोध पर वे प्रवचनार्थ वाहर भी जाते हैं। उन्होंने अत्यन्त परिश्रम करके सरल और प्रवाहपूर्ण भाषा मे यह कार्य किया है, एतदर्थ हम उनके हार्दिक आभारी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल कम करने हेतु सहयोग प्रदान करने वाले दातारो की सूची इसी पृष्ठ पर नीचे दी जा रही है। उनके भी हम आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के सपादन एव प्रूफरीडिंग का कार्य पडित अभय कुमार जी शास्त्री ने किया है, अत वे भी धन्यवाद के पात्र है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण हेतु बालचन्द यत्रालय के सचालक श्री प्रद्युम्नकुमार जी तथा प्रकाशन व्यवस्था हेतु श्री अखिल वसल को भी धन्यवाद देता हूँ।

सभी लोग छहढाला के प्रतिपाद्य विपय को आत्मसात करके आत्मकल्याण के पथ पर चलें - यही भावना है।

– नेमीचद पाटनी

—※—

प्रस्तुत सस्करण की कीमत कम कराने वाले दातारो की सूची

१. श्री त्रिलोकचन्द बिरधीचन्द, बम्बई	२५०–००
२. श्री पाण्डे कामताप्रसाद जैन, अलीगज	१५१–००
३. श्री जयन्ति भाई धनजी भाई दोशी, बम्बई	१११–००
४. श्री चौ० फूलचन्द जैन, वम्वई	१०१–००
५. श्रीमती धुली बाई खेमराज गिडिया, खैरागढ	१०१–००
	कुल ७१४–००

विषय-सूची

छहढाला

चौथी ढाल

(सम्यग्ज्ञान व एकदेशचारित्र का स्वरूप, भेद एव महिमा)

(दोहा)

सम्यक्श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान ।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान ।। १ ।।

(रोला)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ ।
लक्षण श्रद्धा जानि, दुहू मे भेद अबाधौ ।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई ।
युगपत् होते हू, प्रकाश दीपक तै होई ।। २ ।।

तास भेद दो है, परोक्ष, परतछि तिन माँही ।
मति श्रुत दोय परोक्ष, अक्ष मन ते उपजाही ।।
अवधिज्ञान मनपर्जय, दो है देश प्रतच्छा ।
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये, जानै जिय स्वच्छा ।। ३ ।।

सकल द्रव्य के गुन अनन्त, परजाय अनन्ता ।
जानै एकै काल प्रगट, केवलि भगवन्ता ।।
ज्ञान समान न आन जगत मे, सुख को कारण ।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण ।। ४ ।।

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे ।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ।।
मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायौ ।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ ।। ५ ।।

तातैं जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै ।
सशय विभ्रम मोह त्याग, आपौ लख लीजै ।।
यह मानुष पर्याय सुकुल, सुनिवौ जिनवानी ।
इह विधि गये न मिलैं, सुमणि ज्यो उदधि समानी ।। ६ ।।

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै ।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै ।।
तास ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानो ।
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनो ।। ७ ।।

जे पूरब शिव गये, जांहि अरु आगे जैहै ।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै है ।।
विषय चांह दव दाह, जगत जन अरनि दझावै ।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै ।। ८ ।।

पुण्य-पाप फल माहि, हरख विलखौ मत भाई ।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई ।।
लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ ।। ६ ।।

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि, दृढ चारित्र लीजै ।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै ।।
त्रस हिंसा को त्याग, वृथा थावर न सहारै ।
परवध कार कठोर निद्य, नहि वयन उचारै ।। १० ।।

जल मृतिका बिन और, नाहि कछु गहै अदत्ता ।
निज बनिता बिन सकल, नारि सौ रहै विरत्ता ।।
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै ।
दश दिशि गमन प्रमान ठान, तसु सीम न नाखै ।। ११ ।।

ताहू मे फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा ।
गमनागमन प्रमान, ठान अन सकल निवारा ।।
काहू की धनहानि, किसी जय हार न चिन्तै ।
देय न सो उपदेश, होय अघ बनज कृषी तै ।। १२ ।।

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै ।
असि धनु हल हिंसोपकरन, नहि दे जस लाधै ।।
राग-द्वेष करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै ।
और हु अनरथदंड हेतु अघ, तिन्है न कीजै ।। १३ ।।

धरि उर समता भाव, सदा सामायिक करिये ।
परव चतुष्टय माहि, पाप तज प्रोषध धरिये ।।
भोग और उपभोग, नियम करि ममत निवारै ।
मुनि को भोजन देय, फेर निज करहि अहारै ।। १४ ।।

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै ।
मरण समय सन्यास धारि, तसु दोष नशावै ।।
यो श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलम उपजावै ।
तहँ तै चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै ।। १५ ।।

———

वीतराग-विज्ञान भाग–४

(छहढाला–प्रवचन)

चौथी ढाल पर प्रवचन

इस छहढाला ग्रन्थ मे सर्वप्रथम मगलाचरण मे तीन जगत् मे सारभूत वीतराग-विज्ञान को नमस्कार किया है। प्रथम ढाल मे जीव ने अज्ञान से चार गति मे कैसे-कैसे दुख सहन किए, यह बतलाया है। पश्चात द्वितीय ढाल मे उन दुखो के कारण रूप मिथ्यात्वादि का स्वरूप बतलाकर उन्हे छोडने का और हित के पथ मे लगने का उपदेश दिया गया है, तत्पश्चात तृतीय ढाल मे सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाकर, उसकी अत्यन्त महिमा समझाकर शीघ्र उसकी आराधना करने को कहा गया है। अब इस चतुर्थ ढाल से सम्यक्-दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बतलाकर उसकी आराधना करने का उपदेश देते हैं :—

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप एव उसे ग्रहण करने का उपदेश

सम्यक् श्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्म जुत, जो प्रगटावन भान ॥१॥

तीसरी ढाल के अनुसार अत्यन्त महिमा पूर्वक सम्यग्दर्शन को शीघ्र धारण करके सम्यग्ज्ञान को भी हे भव्य जीव! सेवन करो, उसकी आराधना करो। कैसा है सम्यग्ज्ञान? जो अनन्त धर्म वाले स्व-पर पदार्थों का प्रकाशन करने के लिए सूर्य समान है। सम्यग्ज्ञान सूर्य से स्व-पर सर्व पदार्थों का सच्चा स्वरूप जाना जाता है। अत हे भव्य जीव! तुम सम्यक्त्व के साथ सम्यग्ज्ञान का भी आराधन करो

सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है। उनमे समय भेद नही है, तथापि सम्यग्ज्ञान की विशेप आराधना बताने के लिए ज्ञान की जुदी वात की है। सम्यग्दर्शन होने के वाद तुरन्त ही केवलज्ञान नही हो जाता, इसलिए ज्ञान की आराधना अलग से बतलाई है। क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर दर्शन की आराधना पूरी हो जाने पर भी अभी ज्ञान की आराधना अपूर्ण है, इसलिए उसकी आराधना करने के लिए कहा है।

चौथे, पाँचवे, छठवे, सातवे गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दर्शन होने के वाद सम्यग्दर्शन मे तो शुद्धता की वृद्धि नही होती, किन्तु सम्यग्ज्ञान तो गुणस्थानुसार वढता जाता है, गुणस्थानानुसार स्व-तत्त्व को पकडने की ज्ञान शक्ति भी वढती जाती है। इसीलिए सम्यक् दर्शन के वाद सम्यग्ज्ञान की आराधना कही है, यद्यपि एक गुण के लक्ष्य से भिन्न-भिन्न आराधना नही होती, एव आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी आराधना करने पर, उसमे सर्व गुण की आराधना आ जाती है। तथापि गुण-भेद होने से शुद्धि के प्रकारो मे विशेषता होती है, इसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भिन्न-भिन्न वर्णन किया है। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य के पट्ट शिष्य उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र मे भी सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग वताकर, उन तीनो का भिन्न-भिन्न वर्णन किया है।

सम्यग्ज्ञान तो सूर्य है। सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान स्व-परप्रकाशक सूर्य है। सम्यग्दर्शन विना अन्धकार है, सम्यग्दर्शन रहित ज्ञान को ज्ञान नही कहते, क्योकि वह स्व-पर के सच्चे स्वरूप का प्रकाशन नही करता और मोक्ष को नही साधता। स्व-पर समस्त पदार्थों के स्वरूप का प्रकाशन करने के लिए अर्थात् जानने के लिए सम्यग्ज्ञान सूर्य के समान है। स्व और पर, चेतन और जड सभी पदार्थ अपने-अपने अनेक धर्मो सहित हैं। जितने धर्म सिद्ध भगवान मे हैं, उतने ही धर्म प्रत्येक आत्मा मे हैं। उन सबको सम्यग्ज्ञान जानता है। हे भव्य जीव! सुख प्राप्ति के लिए तुम इस सम्यग्ज्ञान का सेवन करो।

सम्यग्दर्शन मे आत्मा अभेद है, परन्तु ज्ञान तो अनन्त गुणो को जानता है। स्व-पर, भेद-अभेद, शुद्धता-अशुद्धता सवको जानने की शक्ति सम्यग्ज्ञान मे है। मैं आत्मा हूँ, मेरे मे ज्ञान-आनन्द है, मेरी परिणति मे अमुक शुद्धता हुई है, अमुक रागादि शेप है, यह सब सम्यक्-ज्ञान मे ज्ञात होता है। नव तत्त्व को भी सम्यग्ज्ञान ही जानता है, सम्यग्दर्शन मे नौ भेद नही, उसमे अभेदरूप एक परमार्थ आत्मा का ही स्वीकार है। उस अभेद मे द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद भी वह नही करता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने वाला सम्यग्ज्ञान स्व-पर को यथार्थ जानता है और वीतरागता को साधता है। अत इस वीतराग-विज्ञान का सेवन करो।

सर्वज्ञ परमात्मा ने आत्मा मे अनन्त गुण देखे है, जिनका गिनती का कोई माप नही ? ऐसे अनन्त गुण प्रत्येक आत्मा मे है, उनका प्रकाशक सम्यक्त्व सहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान की अनु-भूति मे अनन्त-अनन्त गुणो का स्वाद एकरसपने समा गया है। अनन्त गुणो को यथार्थ रूप से सर्वज्ञदेव के शासन के अतिरिक्त अन्य कोई नही कह सकता, जान नही सकता। अनन्त गुणो के स्वीकार विना सच्चा आत्मा प्रतीति मे नही आता। अनन्त गुण-पर्याय से एक रूप आत्मा मे भेद रहित निर्विकल्प प्रतीति सम्यग्दर्शन है।

लोक मे सर्वज्ञ वीतराग जिनदेव के अतिरिक्त अन्य किसी के मार्ग मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नही होता, अर्थात् मोक्षमार्ग नही होता। स्व-पर पदार्थ को उसके अनेक धर्म सहित पहचान कराने वाला सम्यग्ज्ञान है। पदार्थ मे अनन्त धर्म है, इसलिए वह अनेकान्त स्वरूप है और उसको जानने वाला सम्यग्ज्ञान है, अत वह भी अनेकात की मूर्ति है, क्योकि ज्ञान के साथ अभेद रूप मे शाति, श्रद्धा आदि अनन्त धर्म रहते है — ऐसी अनेकातमय मूर्ति सदा प्रकाश रूप रहो। इस प्रकार समयसार के दूसरे कलश मे कहा है।

अनन्त गुणपर्याय ही पदार्थ के धर्म है। प्रत्यक पदार्थ के अपने-अपने अनन्त धर्म हैं। यह चैतन्य पदार्थ भी अपने अनन्त गुण पर्यायों सहित है, उसमे केवलज्ञान और सिद्ध पद की सामर्थ्य है। जड़ मे जड के गुण-पर्याय हैं, चेतन मे चेतन के गुण-पर्याय है। और ऐसे स्व-पर तत्त्वों को भिन्न-भिन्न जानने की आत्मा के ज्ञान की शक्ति है। वह ज्ञान मोक्ष का कारण है, अत सेवन करने योग्य है। देखो शुभ राग अथवा पुण्य को सेवन करने योग्य नही कहा, किन्तु राग से पार वीतराग-विज्ञान सेवन करने योग्य है – ऐसा कहा है।

ज्ञान कहने का अर्थ शास्त्र के शब्द मत समझना, किन्तु आत्मा का ज्ञान स्वभाव है। उसके सन्मुख होकर जो ज्ञान प्रकट हुआ, वह सम्यग्ज्ञान है, वह स्व-पर का जानने वाला है। सम्यग्ज्ञान उसे कहते है, जो स्व-पर को उनके धर्मों सहित जाने। अस्तित्व आदि सामान्य तथा चेतन आदि विशेष गुणों सहित आत्म वस्तु है, परमाणु वर्णादि सहित है, प्रत्येक पदार्थ और उसके धर्म अपने से है, अन्य मे नहीं। एक वस्तु के धर्म दूसरी वस्तु मे जाते नही अथवा दूसरी वस्तु के कारण वस्तु मे धर्म नही होते। अहो! अनेकातमय वस्तु स्वभाव को ज्ञान, सूर्य की भाति प्रकाशित करता है, अत सम्यक्-दर्शनपूर्वक ऐसे सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए। स्वसन्मुख अभ्यास से भेदज्ञान को भाते-भाते केवलज्ञान होने तक सम्यग्ज्ञान का सेवन करो।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठिते ॥

ज्ञान पर से हटकर ज्ञान मे ही ठहर जाय, तब तक अच्छिन्न धारा से इस भेदज्ञान को भाना — इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की आराधना का उपदेश है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे अन्तर

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ ।
लक्षण श्रद्धा जानि दुहू मे भेद अबाधौ ।।
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई ।
जुगपत होते हू प्रकाश दीपक तै होई ।।२।।

सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है, एक साथ ही दोनो प्रकट होते है । उनमे समय भेद नही है, तथापि उन दोनो की भिन्न-भिन्न आराधना कही गई है, क्योकि लक्षण भेद से दोनो मे भेद है – इसमे कोई बाधा नही है । सम्यग्दर्शन का लक्षण तो शुद्धात्मा की श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण स्व-पर को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है । वहा सम्यक् श्रद्धा तो कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है । दोनो साथ होने पर भी दीपक और प्रकाश की भाति उनमे कारण-कार्यपना कहा गया है । सम्यक् श्रद्धा और सम्यज्ञगन की आराधना एक साथ ही प्रारम्भ होती है, किन्तु पूर्णता एक साथ नही होती । क्षायिक सम्यक्त्व होने पर श्रद्धा की आराधना तो पूर्ण हो गई, किन्तु ज्ञान की आराधना तो केवलज्ञान होने पर ही पूर्ण होती है, अत ज्ञान की आराधना भिन्न वतलाई है । सम्यग्दर्शन की भाँति सम्यग्ज्ञान की भी बहुत महिमा है, वह यहा बतायेगे ।

सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान को दृढ करना चाहिए । सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान तो हो गया, फिर भी पर से भिन्न आत्मा की भावना से उस ज्ञान की वृद्धि करना चाहिए । जैसे सूर्य स्वय को तथा पर को प्रकाशित करता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञानरूपी चैतन्य सूर्य अपने आत्मस्वरूप को तथा पर को प्रकाशित करता है – ऐसा उसका स्वभाव है । राग मे स्व को और पर को जानने की शक्ति नही है । "मैं राग हूँ" इसप्रकार राग स्वय को जानता नही है, किन्तु राग से भिन्न ज्ञान ही ऐसा जानता है कि "यह राग है और मैं ज्ञान हूँ" इस

प्रकार राग और ज्ञान का स्वभाव भिन्न है। वास्तव मे तो राग मे चेतनपना ही नही है, ज्ञान की अचिन्त्य सामर्थ्य के समक्ष राग तो कुछ है ही नही। निज भाव मे अभेद होकर और पर भाव से भिन्न रहकर ज्ञान स्व-पर को, स्वभाव-विभाव को जैसा है, वैसा जानता है। राग भी ज्ञान से पर तत्त्व है, राग कही स्व तत्त्व नही है – ऐसे भेदज्ञान करने की शक्ति ज्ञान मे ही है। ज्ञान ही वीतराग-विज्ञान है, वही जगत मे साररूप, मगलरूप और मोक्ष का कारण है।

मुमुक्षु जीव को प्रथम तो सच्चे तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन प्रकट करना चाहिए। ज्ञान या चारित्र सम्यग्दर्शन बिना सच्चा नही होता। मिथ्यात्व सहित जो कुछ जाननापना होता है अथवा शुभाचरण होता है, वह सब मिथ्या ही है, उससे जीव को अश मात्र भी सुख नही मिलता। मोक्ष की प्रथम सीढी सम्यग्दर्शन है, हे भव्य जीव ! उसे तुम शीघ्र धारण करो – यह वात तीसरी ढाल मे की गई है। अव यहा सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान की आराधना का उपदेश देते हैं।

भाई ! इस ससार मे दु खो से छूटकर मोक्ष चाहने वालो के लिए यह वात है। जीव ससार के दु ख तो अनादि से भोग ही रहा है। पुण्य और पाप, स्वर्ग और नर्क यह तो अनादि से कर ही रहा है, यह कोई नई वात नही है। उससे पार आत्मा का अनुभव कैसे हो, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कैसे हो ? उसकी यह बात है, वही अपूर्व है और वही सुखी होने का उपाय है। ससार की चारगति के भटकाव से तुझे थकान लगी हो और उससे छूटकर मोक्ष सुख चाहता हो तो यह उपाय कर।

अहो ! सम्यग्दर्शन अपूर्व चीज है, वही सर्व कल्याण का मूल है, उसके बिना किंचित् भी कल्याण नही हो सकता। एक क्षण भी निर्विकल्प चिन्दानन्द आत्मा का अनुभव करे तो अपूर्व कल्याण हो। उसकी प्राप्ति अपने से होती है, दूसरे से नही। देव-शास्त्र-गुरु ऐसा

कहते हैं कि हे जीव ! तेरे लिए हम पर द्रव्य हैं, हमारी सन्मुखता से तुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होगी, वह तो तुझे स्वरूप के लक्ष्य से ही होगी, अत राग और पराश्रय की बुद्धि छोड ! परलक्ष्य छोडकर पुण्य-पाप से भी पार अपने शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की रुचि कर ! वाह्य पदार्थ तो दूर रहे, अपने मे रहने वाले गुणो के भेद का विकल्प भी जिसमे नही – ऐसा सम्यग्दर्शन है, वह अपूर्व वस्तु है। उसके विना जीव ने पहले बहुत प्रयास किये, परन्तु अपने स्वरूप का सच्चा श्रवण, रूचि, आदर और अनुभव कभी नही किया, इसलिए अब सम्यक्तया जागकर तू आत्मा की पहिचान कर – ऐसा सन्तो का उपदेश है।

अपना परमात्म स्वरूप अनन्त शान्त रस से परिपूर्ण है, उसमे गुण-गुणी के भेद को भी छोडकर अन्तर्मुख सम्यग्दर्शन का आराधन करना – यह वात तीसरी ढाल मे कही, अब उस सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञान की आराधना की बात चलती है। सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान मे गुणभेद का विकल्प काम नही करता, ये दोनो ही विकल्पो से भिन्न है। अन्तर मे राग से भिन्न पडकर चैतन्यस्वभाव की अनुभूति पूर्वक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। धर्म के प्रारभ मे ही ऐसा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है और अनन्तानुवधी के अभाव से प्रकट हुआ सम्यक्चारित्र का अश भी होता है, जिसे स्वरूपाचरण कहते है। चौथे गुणस्थान से जीव को ऐसे धर्म का प्रारभ हो जाता है और वह मोक्ष के मार्ग मे चलने लगता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन और बाद मे सम्यग्ज्ञान – ऐसा समय भेद नही है, दोनो साथ ही है। जहाँ आत्मा की सम्यक् श्रद्धारूप दीपक जला, वहाँ साथ ही सम्यग्ज्ञान का प्रकाश भी प्रकट होता है। सम्यक् दर्शन के साथ मुनिदशा होवे ही – ऐसा नियम नही है। मुनिदशा तो हो अथवा न भी हो, परन्तु सम्यग्ज्ञान तो साथ मे होगा ही – ऐसा नियम है। श्रद्धा सम्यक् हो और ज्ञान मिथ्या रहे - ऐसा नही बनता। सम्यग्दृष्टि को ज्ञान भले कम हो, परन्तु होता वह सम्यक् ही है।

इस प्रकार दर्शन और ज्ञान दोनो साथ होने पर भी दोनो मे लक्षण भेद होने से अन्तर भी है – ऐसा जानकर ज्ञान की पृथक् आराधना की गई है। सम्यग्ज्ञान का प्रारभ तो सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है, फिर भी वह सम्यग्दर्शन के साथ ही पूर्ण नही हो जाता, अत उसकी आराधना अलग से करना चाहिए।

दोनो साथ होने पर भी उनमे सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है – इस प्रकार उनमे कारण-कार्य का व्यवहार करने मे आया है। निजानन्द स्वरूप का अनुभव और प्रतीति होने पर ज्ञान भी सम्यक् हो गया। देखो, सम्यग्दर्शन का कार्य सम्यग्ज्ञान कहा, वैसे तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो आत्मा के कार्य हैं, परन्तु उनमे सम्यग्दर्शन की प्रधानता बताने के लिए उसको कारण कहा। अत पहले कारण और पीछे कार्य – ऐसा नही है, दोनो साथ ही है।

आत्मा स्वय क्या चीज है, उसको तो जाने नही और उसके बिना भक्ति, व्रत, दान, पूजा आदि करे तो पुण्य बाँधकर स्वर्ग मे जायेगा और बाद मे चतुर्गति मे भी भटकेगा। सम्यग्दर्शन के बिना आत्मा का लाभ नही हुआ और भव का अन्त नही आया। यह तो जिससे भव का अन्त आवे और मोक्ष का सुख मिले - ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात है। आत्मदर्शन और आत्मज्ञान बिना तीनकाल, तीनलोक मे कही सुख नही है। भले पुण्य करके स्वर्ग जाय, परन्तु वहाँ भी लेश मात्र सुख नही है। जीव ने पुण्य-पाप किया वह तो अनादि को चाल है, वह कहो नया नही है। आत्मा के ज्ञान से मिथ्यात्व का अभाव हो वह अपूर्व मोक्षमार्ग की चाल है। देखो, सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन का कार्य कहा, किन्तु उसे शुभ राग का कार्य नही कहा। राग करते-करते सम्यग्ज्ञान हो जायेगा ऐसा नही कहा, क्योकि सम्यग्ज्ञान कही राग का कार्य नही है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण "श्रद्धा" सम्यग्ज्ञान का लक्षण "जानना",
सम्यग्दर्शन तो है कारण, और सम्यग्ज्ञान है कार्य।

इस भाति दो प्रकार से लक्षण के द्वारा भिन्नता बताई, इसमे कही बाधा नही है। जैसे दीपक और प्रकाश दोनो एकसाथ होते हैं, तथापि दीपक के कारण उजेला हुआ – ऐसा कहा जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एकसाथ होने पर भी उनमे कारण-कार्यपना कहा। श्रद्धा को मुख्य बताने के लिए उसे कारण कहा और ज्ञान को कार्य कहा। यह कारण-कार्य दोनो शुद्ध है, उन दोनो के बीच मे कही राग नही आया। राग या देहादि की क्रिया मे तो सम्यग्ज्ञान के कारण का उपचार भी नही आता।

पूर्वपर्याय कारण और उत्तरपर्याय कार्य – ऐसा भी कहा जाता है, जैसे मोक्षमार्ग कारण और मोक्ष कार्य है।

अनेक वर्तमान पर्यायो मे एक कारण और दूसरी कार्य –ऐसा भी कहा जाता है,जैसे सम्यग्ज्ञान कारण और सुख कार्य।

द्रव्य कारण और पर्याय कार्य – ऐसा भी कहा जाता है, जैसे सम्यग्दर्शन का कारण शुद्ध भूतार्थ आत्मा।

इस तरह अनेक प्रकार की विवक्षा से कारण-कार्य के भेद पडते हैं, उन्हे जैसे है, वैसे जानना चाहिए। कारण–कार्य को एकान्त अभेद मानना या एकान्त भिन्न आगे-पीछे मानना सच्चा नही है। अज्ञानी जीव सच्चे कारण-कार्य को जानता नही है और अन्य विपरीत कारणो को मानता है, अथवा एक के कारण-कार्य को दूसरे मे मिलाकर मानता है, अत. उसके ज्ञान में कारण-कार्य का विपर्यास हे अर्थात् मिथ्याज्ञान मे कारण विपरीतता, स्वरूप विपरीतता, भेदाभेद विपरीतता कही है।

आत्मा है ऐसा माने, किन्तु उसकी पर्याय का कारण परद्रव्य है – ऐसा माने, अथवा आत्मा दूसरे के काय का कारण है, ऐसा माने अथवा आत्मा की मोक्षदशा का कारण राग है – ऐसा माने, तो उसको कारण विपरीतता है, सच्चा ज्ञान नही है।

आत्मा है – ऐसा तो कहे, किन्तु उसे ईश्वर ने बनाया है – ऐसा माने, अथवा पृथ्वी आदि पचभूत के सयोग से आत्मा बना है – ऐसा माने, अथवा सर्वव्यापक ब्रह्म माने, आत्मा का पर से भिन्न स्वतत्र अस्तित्व न माने, तो उसको स्वरूप विपरीतता है अर्थात् सच्चा ज्ञान नही है।

गुण और गुणी को सर्वथा भेद माने या सर्वथा अभेद माने तो उसको भेदाभेद विपरीतता है, अथवा दूसरे ब्रह्म के साथ इस आत्मा को अभेद मानना या ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानना, यह भी विपरीतता है – वस्तु का सच्चा ज्ञान नही है।

इस प्रकार अज्ञानी जो कुछ जानता है, उसमे उसको किसी न किसी प्रकार की विपरीतता होने से उसका सभी जानपना मिथ्याज्ञान ही है, मोक्ष साधने के लिए कार्यकारी नही हैं।

ज्ञान मे मिथ्या श्रद्धा के कारण ही मिथ्यापना है या ज्ञान मे स्वय कोई दोष है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर मे प० टोडरमलजी कहते हैं कि अज्ञानी के ज्ञान मे भी भूल है, क्योकि ज्ञान मे जानपना होने पर भी वह ज्ञान अपने स्व प्रयोजन को साधता नही, स्व ज्ञेय को जानने की तरफ बढता नही – यह उसका दोष है। अज्ञानी अप्रयोजनभूत पदार्थों के जानने मे तो ज्ञान को प्रवर्ताता है, किन्तु जिससे अपना प्रयोजन सिद्ध हो – ऐसे आत्मा का ज्ञान तथा स्व-पर का भेदज्ञान तो वह करता नही, इसलिए उसके ज्ञान मे भी भूल है। मोक्ष के हेतुभूत स्व तत्त्व को जाननेरूप प्रयोजन को साधता न होने से वह ज्ञान मिथ्या है। भगवान के मार्गानुसार जीवादि तत्त्वो का स्वरूप बराबर पहिचानने पर अज्ञान टलता है और सच्चा ज्ञान होता है और सच्चा ज्ञान तो परम अमृत है, वह अमृत समान मोक्षसुख का साधन है, इसलिए हे भव्य जीव ! तुम इस सम्यग्ज्ञान का सेवन करो।

सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान अपने आत्मा को पर से भिन्न चिदानन्द स्वरूप जैसा है, वैसा स्वसवेदन पूर्वक अतोन्द्रिय ज्ञान से जानता है। सम्यग्दर्शन के साथ वाले सम्यग्ज्ञान मे आशिक अतीन्द्रियपना हुआ है – ऐसा सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग का द्वितोय रत्न है। शुद्धात्म सन्मुख उपयोग बढने पर यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो रत्न एक साथ प्रकट होते हैं और उसी समय अनन्तानुबधी कषायो के अभाव से स्वरूपाचरण भी होता है, ऐसा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान मे प्रारम्भ होता है। जैसे सिद्धप्रभु के आनन्द का नमूना चखते हुए सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ, वहा एक साथ अनन्त गुणो मे निर्मल कार्य होने लगता है।

श्रद्धा-गुण की शुद्ध पर्याय सम्यग्दर्शन कही त्रिकाली गुण नहीं है। श्रद्धा गुण त्रिकाल है, उसकी सम्यक् पर्याय सम्यग्दर्शन है और उससे मिथ्यात्व सबधी दोष का अभाव होने से उस सम्यग्दर्शन को शास्त्र मे गुण भी कहा जाता है। मिथ्यात्व वह मलिनता और दोष है, उसके समक्ष सम्यग्दर्शन वह पवित्र गुण है, उसमे शुद्धता – निर्मलता है, इसलिए उसको गुण कहा है। उसमे अभेद आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति है, वह मोक्षपुरी मे प्रवेश होने का द्वार है।

सम्यग्ज्ञान वह ज्ञान गुण की पर्याय है। चौथे गुणस्थान में आत्मा का अनुभव – ज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान प्रारभ हुआ, किन्तु वह एक साथ पूर्ण नही होता, केवलज्ञान होने पर पूर्ण होता है। सम्यक् ज्ञान स्व-पर को, भेद-अभेद को, शुद्ध-अशुद्ध को, जैसा है वैसा जान कर अपने आत्मा को पर भावो से भिन्न साधता है।

मैं शुद्ध परिपूर्ण अभेद एक भूतार्थ आनन्दमय चैतन्यतत्त्व हूँ – ऐसे स्वसवेदन पूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा की मान्यता करता है। सम्यग्दर्शन मे अपने ऐसे आत्मा का स्वीकार है। सम्यग्दर्शन पर्याय मे स्वसन्मुखता है, परसन्मुखता नही है। क्या पर समक्ष देखने से

सम्यग्दशन होता है ? नही, किसी पर की सन्मुखता से (देव-गुरु की सन्मुखता से भी) सम्यग्दर्शन नही होता। अपने भूतार्थ आत्मा की सन्मुखता से ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन पर्याय श्रद्धा गुण की है और श्रद्धा गुण आत्मा का है, ऐसी स्थिति मे आत्मा के सन्मुख हुए बिना सम्यग्दर्शन पर्याय कहा से होगी ? श्रद्धा गुण और उसकी सम्यग्दर्शन पर्याय वह तो आत्मा का निज स्वरूप है, उस निज स्वरूप के सन्मुख होने पर वह स्वय श्रद्धा गुण की निर्मल पर्यायरूप से परिणमित होता है। इस जीव का श्रद्धा गुण कही दूसरे किसी देव-शास्त्र गुरु के पास नही है कि जिनमे से सम्यग्दर्शन पर्याय आवे। श्रद्धा जहा होगी, वही से उसकी सम्यग्दर्शन पर्याय आवेगी। श्रद्धा गुण आत्म वस्तु का है, उसकी अखण्ड प्रतिति से सम्यक्त्वरूप शुद्ध पर्याय प्रकट होगी। सम्यक्त्व की तरह सभी गुणो की शुद्ध पर्याये भी स्वाश्रय से ही प्रकट होती है – ऐसा समझना चाहिए।

क्या आत्मा का कोई गुण राग मे है ? नही, तो राग की सन्मुखता से कोई गुण प्रकट नही होता।

क्या आत्मा का कोई गुण निमित्त मे है ? नही, तो निमित्त की सन्मुखता से कोई गुण प्रकट नही होता।

इस आत्मा का कोई गुण देव-शास्त्र-गुरु के पास है ? नही, तो उनकी सन्मुखता से कोई गुण प्रकट नही होता।

भगवान आत्मा के सर्व गुण अपने मे ही है, अन्य किसी मे नही, इसलिए आत्मा के अपने सामने देखने से ही सर्वगुण प्रकट होते हैं, पर समक्ष देखने से कोई गुण प्रकट नही होता। त्रिकाली गुण स्वभाव अपने मे है, उसके सन्मुख होने पर भी सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यक् ज्ञान हुआ, आनन्द भी हुआ और अनन्त गुण की निर्मलता के वेदन सहित मोक्षमार्ग खुल गया, अपना आनन्दमय स्व-घर जीव ने देख लिया।

हे भाई ! यह तेरे निज घर की वात है। अपने निज घर की वात तू उत्साह से सुन। अनादि से रागादि पर घर को ही अपना माना था, यहा सर्वज्ञ परमात्मा और सत तुझे तेरा स्व-घर वताते है, जिसको देखते ही आनन्द सहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तथा अन्तर मे मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है। सम्यग्दर्शन तो धर्म की मूल इकाई है, उसको भूलकर जीव जो कुछ करे उससे जन्म-मरण का अन्त नही आता। इसलिए जो अनन्त काल मे पहले कभी नही किया और जिसके प्रकट होते ही जन्म-मरण का अन्त आकर मोक्ष की ओर का परिणमन प्रारभ हो जाता है – ऐसा सम्यग्दर्शन आराधने योग्य है।

समवशरण के वीच मे गणधरो तथा शत इन्द्रो की उपस्थिति मे सर्वज्ञ वीतरागी भगवान की दिव्य वाणी खिरती थी और गणधर भगवान उसे झेलते थे। उसे झेलकर गणधरो और तदनुसार कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी सन्तो ने जो समयसारादि परमागम रचे, उनकी ही परम्परा जैनमार्ग मे चल रही है और उसके अनुसार ही प. दौलतरामजी ने इस छहढाला की रचना की है। उसमे कहते हैं कि हे जीव ! तेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द की खान जड मे नही है, राग मे नही है, विकल्प मे नही है, तेरे आत्मा का श्रद्धा गुण ही तेरे सम्यग्दर्शन की खान है, तेरा ज्ञान गुण ही तेरे ज्ञान की खान है, तेरा आनन्द गुण ही महा आनन्द की खान है, अनन्त गुण की खान तेरे आत्मा मे ही है, ऐसे आत्मा के सन्मुख होने पर आत्मा के श्रद्धा आदि अनत गुणो का सम्यक् परिणमन हुआ वही सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि है। जहा जिस वस्तु की खान भरी हो वह वस्तु उसमे से ही निकलेगी, कुए मे पानी हो तो वाहर आवे, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की खान कहाँ है ? सम्यग्दर्शन की खान आत्मा है, अनन्त गुण की खान आत्मा है। सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति के लिए अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र जाना नही पडता। सम्यग्दर्शन की ध्रुव खान ऐसे

आत्म स्वभाव का स्वीकार करते ही सम्यग्दर्शन होता है, दूसरा कोई उपाय नही है। सम्यग्ज्ञान आदि की भी यही रीति है। शुद्धात्मा की सन्मुखता से बीच मे अन्य किसी का या रागादि का आलम्बन है ही नही, सारा मोक्षमार्ग आत्मा के अवलम्बन से है।

ज्ञान स्वरूप आत्मा मे केवल ज्ञान भरा है, राग के मेल-मिलाप बिना अकेला शुद्ध ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। ऐसे आत्मा को जानने पर आनन्द रस से भरपूर सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। सम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सम्यग्ज्ञान सदा होता है। भगवान आत्मा के श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन पर्याय ज्ञान, आनन्द और शान्ति के अपूर्व वेदन सहित प्रकट होती है। जीवादि सात तत्त्व और उनमे पर से भिन्न अपना शुद्ध आत्मा, उसको सम्यग्दृष्टि जानता है और उसकी श्रद्धा करता है। सामान्य और विशेष दोनो की विपरीतता रहित प्रतीति सम्यग्दर्शन है। अकेले सामान्य को माने, विशेष को न माने अथवा अकेला विशेष माने, सामान्य को न माने तो तत्त्व श्रद्धा सच्ची नही होती। वस्तु स्वय सामान्य-विशेष स्वरूप है, उसको विपरीतता रहित जैसी है वैसी जानकर श्रद्धा करनी चाहिए। धर्मी को श्रद्धा ज्ञान मे विपरीतता नही तथा सशयादि दोष भी नही। हमारे आत्मा को हमने जाना या नही, हमे सम्यग्दर्शन हुआ या नही, हमे अनुभव हुआ वह सच्चा होगा या नही – ऐसा सशय धर्मात्मा को नही होता। जहाँ ऐसा सशय हो वहा तो अज्ञान है। धर्मी तो अपनी दशा को निशक जानता है कि अपूर्व आनन्द के वेदन सहित हमको सम्यग्दर्शन हुआ है, आत्मा की अनुभूति हुई है, सर्वज्ञ देव ने जैसा आत्मा जाना है, वैसा ही अपने आत्मा को हमने अनुभव सहित जाना है, उसमे अब कोई शका नही है। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान से मोक्षमार्ग की आराधना होती है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान बिना कोई जीव भले द्रव्यलिगी साधु हो, परन्तु उसको सशयादि दोष बने रहते हैं। जहा सम्यग्ज्ञान है, वहा आत्मा का सशय नही रहता और जहाँ आत्मा का

सशय है, वहा सम्यग्ज्ञान नही है । जहाँ शका तहा गिन सन्ताप, ज्ञान तहा शका नही स्थाप " ।[1] ज्ञानी जीव आत्मस्वरूप मे नि शकित होते है, इसीलिए मरणादि के भय रहित निर्भय होते है ।

सम्यग्दर्शन होने मे आत्मा कारण है । जिस सम्यग्दर्शन मे परिपूर्ण आत्मा ही प्रतीति मे आ गया तो उसके साथ के ज्ञान मे सशय कैसे रह सकता है ? मेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा मोह और राग से रहित है अर्थात् भव के कारण से रहित है । ऐसे आत्मा का जिस श्रद्धा ने अनुभव सहित स्वीकार किया, उस श्रद्धा के साथ का ज्ञान भी नि शक हो गया कि मेरे आत्मा मे भव नही, भव का कारण मेरे स्वभाव मे नही । भव के कारण रूप ऐसे विभाव से भिन्न हमारा भव रहित मुक्त स्वभाव हमने अनुभव किया, अब भव कैसा ? अब अनन्त भव शेष होगे —ऐसी शका धर्मी को होती ही नही, उसके तो अल्पकाल मे मोक्ष होने की पात्रता आत्मा मे से आ गई है, मोक्ष की तरफ का परिणाम चल ही रहा है । ऐसी दशा का नाम सम्यग्ज्ञान है और वह मोक्ष का साधन है ।

सम्यग्ज्ञान सूर्य की किरणो मे राग नही है, उसमे स्व-पर का यथार्थ निर्णय होता है ।

ज्ञान और आनन्द स्व, शरीर और रागादि पर ।

मैं ज्ञानमय तत्त्व हूँ । ज्ञान के साथ उस भूमिका के योग्य राग है, कर्म है, शरीर है, वस । इतना स्वीकार है, परन्तु ज्ञान से तो वह भिन्न ही है । तथा ज्ञान के साथ अनन्त भव हो ऐसा राग नही है, अनन्त भव हो ऐसा कर्म नही है, अल्प राग और अल्पकर्म है, वह भी मैं नही हूँ – उसका अस्तित्व मेरे ज्ञान मे नही है, मेरा अस्तित्व राग और कर्म रहित शुद्ध चैतन्यमय है । इस प्रकार धर्मी जीव स्व-पर के भिन्न अस्तित्व को जानता है ।

---

१ श्रीमद राजचन्द

सम्यग्दर्शन मे आत्मा के भूतार्थ स्वभाव की प्रतीति है, उसके साथ का सम्यग्ज्ञान स्व-पर, द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-विकार सबको भेद सहित जानता है। वस्तु का सच्चा स्वरूप जाने विना श्रद्धा किसकी ? ज्ञान विना श्रद्धा सच्ची नही और श्रद्धा विना ज्ञान सच्चा नही। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनो साथ ही हैं।

मैं अखण्ड शुद्ध चैतन्य हूँ। मेरी पर्याय मे अमुक निर्मलता हुई है और अल्पमलिनता है, तथा कर्म का सवध भी अल्प है। कितना ? कि एकाध भव हो ऐसा, परन्तु जिससे अनन्त भव हो ऐसा कोई भी मिथ्यात्वादि मलिन भाव या कर्म का सम्वन्ध मेरी पर्याय मे नही है। अस्थिरता का जो अत्यन्त अल्प रागादि है, उसकी स्वभाव दृष्टि मे कोई गिनती नही है। स्वभाव मे या उसमे एकाग्र हुई पर्याय मे तो भव है नही, विकार भी नही, पराश्रय मे जो अल्प रागादि अथवा एकाध भव हो वह भी ज्ञान से तो भिन्न है। ज्ञान स्व है और जो अल्प रागादि है, वे ज्ञान से भिन्न पर है। अनन्त ससार का कारण हो ऐसा तो कोई रागादि भाव धर्मी के होता ही नही। ज्ञान से भिन्न पडे रागादि मे ऐसी शक्ति नही कि जीव को बहुत भव करावे। इसका नाम अनन्तानुबन्धी का अभाव है। धर्मी को महान चैतन्य-तत्त्व के सम्यग्ज्ञान के सामने रागादि तो अत्यन्त हीन हो गये हैं। ऐसा होने पर जो अल्प राग है, उसे भी धर्मी जीव वन्ध का ही कारण समझता है, मोक्ष का कारण कदापि नही। अब, सम्यग्ज्ञान के साथ बन्ध का कारण तो इतना अल्प रहा है कि कदाचित् एकाध भव होगा। भविष्य मे प्रबल कर्म आ जावे और भव मे भटकावे तो ? धर्मी को ऐसा सन्देह भी नही होता, क्योकि ज्ञान मे से तो ज्ञान ही आवे, ज्ञान मे से कही ससार नही आवे। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान मे ससार है ही कहाँ ? ज्ञान के बल से यह अल्प रागादि भी एकाध भव मे छूट जावेंगे और मोक्ष दशा प्रकट हो जावेगी। जिसको इसमे सन्देह है उसको अपने सम्यग्ज्ञान की ही श्रद्धा नही अर्थात् उसे सम्यग्ज्ञान हुआ ही नही।

अहा ! सम्यग्ज्ञान किसे कहे ? उसकी अचिन्त्य महिमा की लोगो को खवर नही है । जैसे सम्यक् श्रद्धा मे शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य का स्वीकार नही, वैसे ही उसके साथ जो सम्यग्ज्ञान है वह भी ऐसी शक्ति वाला है कि अपने स्वभाव मे से परभाव को भिन्न कर डालता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान के साथ ऐसा राग नही रहता जो अनन्त भव करावे, वैसे ही अजीव मे भी निमित्तरूप से ऐसा कोई कर्म का सवन्ध वहा नही रहता जो अनन्त भव का कारण हो सके – इस प्रकार सव तत्त्वो का मेल होता है । यहा उपादान मे तो अनन्त भव नही और निमित्त मे भी ऐसा कर्म या विकार नही। जो अल्प कर्म अथवा विकार है, उसका भी सम्यग्ज्ञान मे तो अभाव ही है । विकार के किसी अश को ज्ञान अपने साथ एकपने नही स्वीकारता, सम्यग्ज्ञान की धारा तो राग से अत्यन्त जुदी जाति की वर्तती है । आत्मा मे ऐसी अपूर्व ज्ञान दशा होने पर वह स्पष्ट अपने वेदन मे आती है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ भव के अभावरूप भाव प्रगट हुआ, मोक्ष की तरफ की धारा प्रकटी है, फिर वहा अव अनन्त भव की शका कैसे रहे ? वहा अव जो राग रहा वह इतना अल्प है कि अल्प काल मे ही उसका अभाव हो जावेगा । उस राग को ज्ञान से तो भिन्न जाना ही है तो फिर उसका वल कहा से रहेगा ? ज्ञान का ही वल है और उस ज्ञान सामर्थ्य के वल से राग का नाश ही हो जाता है । ज्ञान तो विकार रहित ही है, वह ज्ञान विकार का नाशक है, रक्षक नही । अरे ऐसा ज्ञान जागृत होने पर अन्दर मे जो शान्ति वेदन मे आती है उसकी क्या बात ! आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान कोई सामान्य वस्तु नही है, वह तो कोई अलौकिक भाव है, वह एक क्षण मे अनन्त ससार दु खो को काटकर अपूर्व मोक्षसुख का स्वाद चखाती है । ससार चक्र को वद करके मोक्ष चक्र चालू करती है । इसलिए हे भव्य जीव ! तुम सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान की आराधना करो ।

सच्चा ज्ञान होने पर आत्मा मे सदेह नही रहता। यह जीव लोक मे भी जिस वस्तु को जानता है उसको सन्देह रहित जानता है, तो आत्मा को जानने मे सन्देह कैसे चले ? सोना, हीरा वगैहर को नि सदेह परीक्षा करके ही खरीदता है। "चाहे जो भी होगा"– ऐसा सन्देह रखकर ऐसे-ऐसे ही नही ले लेता। फिर यह तो चैतन्यहीरा है, अपूर्व मोक्ष-मार्ग है, उसको सन्देह रहित परीक्षा करके स्वीकार करे तो ही सम्यग्ज्ञान होता है, उसमे सन्देह वाला ज्ञान नही चल सकता। इस प्रकार आत्मा की निस्सन्देहता वाले सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को भिन्न-भिन्न लक्षणो से पहचान कर अपने हित के लिए उसकी आराधना करो।

सच्चा ज्ञान जगत मे सार है। सम्यग्ज्ञान के विना राग की मदता से पुण्य वधता है, उससे स्वर्ग मिलता है, किन्तु जन्म-मरण का अन्त नही आता। जन्म-मरण का अन्त तो सम्यग्ज्ञान से ही आता है।

पर द्रव्यन तें भिन्न आप मे रुचि सम्यक्त्व भला है,
आप रूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।

पर द्रव्यो से भिन्न, जिसमे अनन्त ज्ञान आनन्द निश्चय से भरा है – ऐसे आत्मा को पहचान कर अनुभव पूर्वक जो रुचि और ज्ञान हुआ, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, और मोक्ष के साधने की कला है। भाई ससार की अन्य अनेक कलायें तूने पढी, किन्तु मोक्ष के लिए यह वीतरागी कला तूने कभी न जानी। अनन्तकाल मे प्रगट नही की ऐसी यह ज्ञान कला अपूर्व चीज है, वह जन्म-मरण के दु खो को मिटाने वाला परम अमृत है, वही परम सुख का कारण है। सम्यग्दर्शन के बाद भी अच्छिन्न धारा से भेद-ज्ञान की भावना करना उचित है, अत केवलज्ञान होने तक उसी के करने का उपदेश है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो निर्मल पर्यायें हैं। एक पर्याय श्रद्धा गुण की है और दूसरी ज्ञान गुण की है। उन दोनो पर्यायो मे

व्यवहार से कारण-कार्यपना है। यद्यपि ज्ञान पर्याय गुण के आधार से है, किन्तु सहचर अपेक्षा से श्रद्धा पर्याय को उसका कारण कहा, रागादि अशुद्धता को कारण नही कहा। इसीप्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान को अतीन्द्रिय सुख का साधन कहना इत्यादि कथन भी व्यवहार है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, आनन्द आदि सभी पर्यायो का मूल उपादान तो आत्म द्रव्य है, उसके अनन्त गुणो की पर्याये एक साथ परिणमती है, उनमे से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का स्वरूप वताने के लिए यह वर्णन है। वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान पर्याय पर मे से या राग मे से नही आती, पर वस्तु या राग उसका कारण नही। अपनी निर्मल पर्यायो मे परस्पर कारण-कार्यपना व्यवहार से कहा, निश्चय से उन उन पर्यायो रूप से परिणमित आत्मा ही अभेदपने उनका कारण है, कारण-कार्य भिन्न नही है, उनमे समय भेद नही है। भगवान आत्मा मे श्रद्धा-ज्ञानादि निज गुणो की अनन्त शक्ति भरी है, वही अपने-अपने निर्मल भाव रूप से परिणमती है, उसमे बाहर का कोई कारण नही। आत्मा के अनन्त गुणो मे परस्पर कारण-कार्यपना कहा जाता है। जैसे—यहा सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान का कारण कहा। प्रवचनसार मे अतीन्द्रिय ज्ञान को अतीन्द्रिय सुख का कारण कहा, समयसार मे अज्ञानी निश्चय चारित्र के कारणरूप ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है—ऐसा कहकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान को चारित्र का कारण कहा—इस प्रकार आत्मा की अपनी पर्यायो मे अनेक प्रकार से कारण-कार्यपना कहा जाता है, परन्तु रागादि अशुद्धता के साथ अथवा शरीर की क्रिया के साथ सम्यग्दर्शन आदि का कारण-कार्यपना नही है। देखो, वहा समयसार मे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान को निश्चय चारित्र का कारण कहा है। पचमहाव्रत-समिति आदि व्यवहार-चारित्र करने पर भी सम्यग्दर्शन विना मिथ्यादृष्टि जीव को चारित्रहीन कहा है, क्योकि चारित्र के मूल कारणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान का ही उसके अभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है, इसलिए उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान को चारित्र का मूल कारण कहा। उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन कहा। सम्यग्दर्शन बिना चाहे जितना शास्त्र-

ज्ञान हो तो भी वह सम्यग्ज्ञान नही कहा जाता। जिस ज्ञान मे अपना आत्मा न आया, उसक सम्यक् कौन कहे ? जो ज्ञान स्वय अपने को ही न जाने उसे ज्ञान कौन कहे ? जो ज्ञान आत्मा को न साधे, जो मोक्ष का साधन न हो वह सम्यग्ज्ञान नही, वह तो मिथ्या ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के साथ का ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, इसलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को वरावर पहिचान कर उसकी आराधना करना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान विना जीव ने ससार मे अनन्त भव धारण किए और अनन्त दु ख भोगे। राजा हुआ, भिखारी भी हुआ, स्वर्ग मे गया और नर्क मे भी गया, किन्तु कही सुख नही मिला। कोटि जन्मो मे तप तपा (शान्ति मे नही ठहरा, किन्तु तपा) और आत्मज्ञान विना दु खी ही रहा। यहा तो अब तत्त्व के ज्ञान से आत्मा के स्वरूप का सच्चा निर्णय और अनुभव करके सम्यग्दर्शन हुआ, उसके साथ के सम्यग्ज्ञान की वात है। ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ को भी होता है। वह धर्मी जानता है कि हमारी चीज तो अन्तर मे ज्ञान और आनन्द से भरी है, इस बाहर की चीज मे हम नही और हमारे मे वाहर की चीज नही – ऐसा भेद-ज्ञान वह वीतरागी विज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है और तीन लोक मे सारभूत है। आत्मा के ज्ञान समान जगत् मे अन्य कोई सुख का कारण नही। इस ढाल मे ही आगे चौथे श्लोक मे कहेगे –

"ज्ञान समान न आन जगत् मे सुख को कारन,
इह परमामृत जन्म-जरा-मृत रोग निवारन।"

ससार मे पैसा-मकान-मोटर आदि मे कही सुख है ही नही। अरे! स्वर्ग के वैभव मे भी सुख नही है तव अन्य की बात क्या ? सुख तो बस, सम्यग्ज्ञान से आत्मा का अनुभव होने मे ही है, वही सच्चा सुख है, शेष तो सब कुछ अज्ञानी की कल्पना है।

यहा बाहर की पढाई रूप ज्ञान की बात नही है, किन्तु अपने आत्मा के अनुभव मे से प्रकट हुए अन्तर्ज्ञान की बात है। मैं शुद्ध आनन्द चैतन्यमूर्ति हू – ऐसे देहादि से भिन्न आत्मा का ज्ञान होने पर परम अतीन्द्रिय शान्तिरूप जो सुख अनुभव मे आता है, वैसा सुख जगत मे कही नही है। पुण्य को सुख का कारण नही कहा, राग को या बाह्य सामग्री को भी सुख का कारण नही कहा, शुभराग, पुण्य और बाह्य सामग्री, इन सबसे पार ऐसे चिदानन्द आत्मा का जो सच्चा ज्ञान है वही सुख का कारण है – ऐसा कहा, क्योंकि वह ज्ञान स्वय आनन्दरूप होकर प्रकट होता है, आत्मा के सुख का स्वाद लेते हुए ज्ञान प्रकट होता है।

हे भाई ! तू बाहर के थोथे जानपने मे अपनी बुद्धि को रोकता है, उसके बदले अन्तर मे आत्मा का प्रेम लाकर, आत्मा का स्वरूप कैसा अदभुत है, यह जानने मे अपनी बुद्धि को जोड तो तेरा परम हित होगा। आत्मा को जानने पर तुझे परमसुख का अनुभव होगा। आत्मा कैसा है ? उसका विचार, अभ्यास और मनन किए बिना यदि जीवन पूरा हो गया तो तू सुख कहाँ से पायेगा ? इसलिए सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान की आराधना कर। सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान की विशेष आराधना का उपदेश है।

अरे ! सच्चे ज्ञान बिना अज्ञान भाव मे तो सुख कहा से होगा ? अज्ञान से तो ससार की चार गति मे अनन्त दु ख जीव भोग रहा है। उससे छूटने और सुखी होने के लिए यह उपदेश है, क्योकि चारगति मे अनन्तजीव हैं वे सब दु ख से छूटकर सुखी होना चाहते है, अतः जिस से दु ख मिटे और सच्चा सुख हो, ऐसे वीतराग–विज्ञान का उपदेश श्रीगुरु ने करुण पूर्वक दिया है। हे भाई ! अपने आत्मा को पहिचानकर ऐसा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करने से ही तुझे सुख होगा और तेरा दु.ख मिटेगा। अत सम्यग्दर्शन और ज्ञान को पहचान कर उनकी आराधना करो। सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट होने के बाद

चारित्र की आराधना का भी उपदेश करेंगे। तीसरी ढाल मे सम्यग्दर्शन का वर्णन करके उसकी महिमा वताई, इस चौथी ढाल मे सम्यग्ज्ञान का वर्णन करके उनकी महिमा वताते हैं ? और वाद मे छठी ढाल मे सम्यक्चारित्र का वर्णन करके उसकी महिमा वतायेगे। इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप वीतराग-विज्ञान वह जीव के सुख का कारण है, उसकी आराधना का यह उपदेश है।

सम्यग्ज्ञान के प्रकारों का वर्णन

सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान की आराधना करने को कहा, अव वह सम्यग्ज्ञान कितना है तथा उसमे प्रत्यक्ष-परोक्षपना किस प्रकार है – यह कहते हैं।

तास भेद दो हैं परोक्ष परतछि तिन माँही,
मति श्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतैं उपजाहीं।
अवधि ज्ञान मनपर्जय दो हैं देश प्रतच्छा,
द्रव्य क्षेत्र परिमाण लिये जाने जिय स्वच्छा ॥ ३ ॥
सकल द्रव्य के गुन अनन्त पर्याय अनन्ता,
जानै एकै काल प्रकट केवलि भगवन्ता ॥ ४ ॥पूर्वार्ध॥

सम्यग्दर्शन सहित जो सम्यग्ज्ञान होता है उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो इन्द्रियो तथा मन द्वारा होते है, अत. परोक्ष है। अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये दोनो एक देश प्रत्यक्ष हैं। उनके द्वारा जीव मर्यादित द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को इन्द्रिय और मन के अवलम्वन विना प्रत्यक्ष – स्पष्ट जानता है। केवलज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है, केवली भगवन्त समस्त द्रव्यो के अनन्त गुणो को तथा अनन्त पर्यायो को एक साथ प्रत्यक्ष जानते है। जानने मे कोई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा नही है। अहो! यह केवलज्ञान

की अद्भुत अचिन्त्य महिमा है। इसकी पहिचान करते ही जीव को ज्ञान स्वभाव की प्रतीति सहित अतीन्द्रियसुख के वेदन से भरपूर सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। प्रवचनसार मे आचार्य देव ने उसकी वहुत महिमा गाई है। अरे! केवलज्ञान की महिमा की तो बात क्या, चौथे गुणस्थान का जो सम्यग्ज्ञान मति-श्रुत रूप है, उसकी भी अपूर्व महिमा है, वह परमानन्दमय अमृत है और मोक्ष का साधक है।

सम्यग्दृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते सम्यग्ज्ञान की यह वात है। पर को जानने वाले मति-श्रुत ज्ञान मे इन्द्रिय-मन का अवलम्बन है, किन्तु मति-श्रुत ज्ञान जव आत्मा के सन्मुख होकर निर्विकल्प स्वसवेदन करता है तव उसमे मन या इन्द्रियो का आलम्वन नही रहता, उतने अश मे स्वसवेदन मे वह भी प्रत्यक्ष है। तत्वार्थसूत्र आदि मे जहाँ मति–श्रुतज्ञान को सामान्यपने परोक्ष कहा है उसमे इतना विशेष समझना कि निर्विकल्प अनुभव दशा मे तो वे ज्ञान स्वसवेदन प्रत्यक्ष हैं, अतीन्द्रिय हैं, मन तथा इन्द्रियो के अवलम्वन रहित हैं। ऐसा अतीन्द्रिय आत्मज्ञान गृहस्थ को भी होता है। हाँ, ज्ञान मे सन्मुख होकर निर्विकल्प सवेदन का काल थोडा ही होता है इसलिए उसकी बात मुख्य न करके सामान्य वर्णन मे मति–श्रुत ज्ञान को परोक्ष कहा गया है।

ज्ञाता–ज्ञान-ज्ञेय के भेद के विकल्प रहित होकर जब आत्मा स्वय अपने स्वरूप का ही अनुभव करता है–जानता है तव उसको प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान है। सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान मे ऐसा अतिन्द्रियपना हुआ तव वह सम्यक् हुआ, वह ज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन सहित है। इसके अतिरिक्त समय मे मति–श्रुत ज्ञान परोक्ष है। जिसमे इन्द्रियो का निमित्त हो उस ज्ञान मे तो इन्द्रियो के विषयभूत रूपी पदार्थ ही ज्ञात होते है, किन्तु कही अरूपी आत्मा उससे ज्ञात नही होता। भगवान चैतन्यसूर्य स्वय अपने को प्रकाशे उसमे जड इन्द्रियो का निमित्त कैसा? अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप आत्म-वस्तु

प्रत्यक्ष ज्ञात है, वह स्वय इन्द्रिय ज्ञान से नही जानता, उसी प्रकार इन्द्रिय ज्ञान से वह जानने मे नही आता। मन के अवलम्बन से भी वह जानने मे नही आता। मन के अवलम्बन से तो स्थूल पर वस्तु परोक्ष जानी जाती है।

आँख द्वारा शरीरादि का रूप दिखता है, परन्तु आत्मा दिखाई नही देता। ज्ञान, रागादि से छूटकर, अन्तर्मुख होकर जब स्वय अपने को पकडता है तब शान्ति का वेदन होता है। उस अतीन्द्रिय शान्ति के वेदन काल मे सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को चौथे गुण-स्थान मे भी ज्ञान अतीन्द्रिय है इसलिए प्रत्यक्ष है। स्व तरफ झुका हुआ ज्ञान मात्र आत्म-सापेक्ष होने से प्रत्यक्ष है, उसमे अन्य किसी का अवलम्बन नही है – ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द से ही मोक्षमार्ग प्रारभ होता है।

प्रश्न —आप कहते हैं कि आत्मा को देखो। अब आँख से तो आत्मा दिखता नही और आख मीचने पर अन्दर अँधेरा अँधेरा लगता है, तो आत्मा को किस प्रकार देखे ?

उत्तर —भाई, इन्द्रिय ज्ञान से आत्मा नही दिखेगा, अतीन्द्रिय ज्ञान से ही आत्मा दिखेगा। आँख मीची तब भी "यह अँधेरा है, और जो अँधेरा है वह मैं नही" – ऐसा जाना किसने ? आत्मा ने या किसी अन्य ने ? अँधेरे को जानने वाला स्वय कही अन्धा नही है, वह तो जागृत चैतन्य सत्ता है और वही आत्मा है। पहले चैतन्य वस्तु कैसी है, यह बराबर लक्ष गत होना चाहिये, पश्चात उसका रस और अत्यन्त महिमा आने पर, परिणाम उसमे एकाग्र हो, तब, अनुभव मे उसका साक्षात्कार होता है। "यह अँधेरा है" इस प्रकार अँधेरे को देखा किसने ? अँधेरा स्वय अपने को तो देखता नही, किन्तु चैतन्य सत्ता देखती है कि यह अँधेरा है और मै उसको जानने वाली हूँ। अँधेरे को जानने वाला "मैं अँधेरा हूँ" ऐसा नही जानता किन्तु "यह अँधेरा है" ऐसा जानता है, अर्थात् अँधेरे को जानने

वाला अँधेरे से भिन्न है। बस ! यह जानने वाला तत्व ही आत्मा है, और अन्तर्मुख मति-श्रुत ज्ञान से ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा को जान सकते हैं। आँख आदि से आत्मा को नही जान सकते। भाई, जिस चैतन्य तत्व मे यह सब जाना जाता है वही तो तू है, उसको अन्दर विचार मे ले। अनादि से स्वय अपनी चैतन्य सत्ता का विचार किया नही। जानने वाला स्वय "मैं हूँ" – इस प्रकार जानने वाला अपने अस्तित्व को ही न माने – यह आश्चर्य है।

हे जीव ! ज्ञान तो तेरा स्वरूप है और अँधेरा पर है। अंध-कार और प्रकाश ये दोनो पर्यायें पुद्गल की है, उनको जानने वाला अरूपी ज्ञान आत्मा का है। ऐसे आत्मा का निर्णय करने के लिए अन्दर उद्यम करना चाहिए। तू बाहर मे दस पाच लाख रुपया प्राप्त करने के लिए कितना परिश्रम प्रेम से करता है। घर-बार छोडकर खाने-पीने की कठिनाई सहन करके भी परदेश मे पैसा कमाने जाता है और दिन-रात मजदूरी करता है। तो यह अनादि-अनन्त महान सुख दाता अपनी अद्भुत ज्ञान लक्ष्मी कैसी है ? उसको प्राप्त करने और उसका अनुभव करने के लिए अन्तर मे कितने प्रेम से उद्यम करना चाहिए ? बापू ! तेरी सच्ची लक्ष्मी तो यह सम्यग्ज्ञान है कि जो परम सुख देने वाला है, अन्य पैसा आदि तो धूल – रजकण है, वह कही तेरी लक्ष्मी नही और उनमे से कभी तुझे सुख मिलने वाला भी नही है।

ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष अर्थात् अकेले आत्मा से जानने का है, जानने मे पर का अवलवन ले – ऐसा उसका स्वभाव नही है। आँख से दृष्टिगोचर हो वह प्रत्यक्ष – यह व्याख्या सच्ची नही है। आँख विना अकेले आत्मा से सीधा जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है और आँख आदि पर की अपेक्षा सहित जो ज्ञान हो वह तो परोक्ष है। प्रत्यक्ष ज्ञान मे पर का आलम्बन नही होता। अरे, जानने का स्वभाव अपना है फिर उसमे पर के आलम्बन की पराधीनता कैसी ?

परालम्बी परोक्ष ज्ञान से आत्मा ज्ञात नही होता। इन्द्रियातीत और राग से पार ऐसे स्वाधीन अतीन्द्रिय ज्ञान मे आत्मा ज्ञात होता है। स्वाधीन कहो, अतीन्द्रिय कहो, प्रत्यक्ष कहो – वह ज्ञान स्पष्ट है, उसका प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से हो जाता है। चौथे गुणस्थान मे स्वानुभूति मे सम्यक् मति–श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होता है, उसमे इन्द्रिया और मन निमित्त नही हैं। ऐसा स्वानुभव–प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान आठ वर्ष की बालिका को भी होता है। उस सम्यग्दृष्टि बालिका को अन्तर मे ध्यान के काल मे अपने ज्ञानानन्दमय आत्मा का वेदन, राग और इन्द्रियो की अपेक्षा बिना होता है, उस समय होने वाले ज्ञान को अध्यात्म शैली मे प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब वह ध्यान मे हो तब स्वानुभव मे स्वय अपने आत्मा को तन्मय होकर जानता है, तब बाहर मे समस्त पर का लक्ष्य छूट जाता है। इस प्रकार ज्ञान स्वय अपने मे एकाग्र होकर अतीन्द्रियपने आत्मानुभव करता है तब आत्मा मे अतीन्द्रिय आनन्दरस की धारा उल्लसित होती है। सिह वगैरह पशुओ मे भी जो जीव सम्यग्दृष्टि हो उन्हे ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है। तीर्थंकर परमात्मा के समवशरण मे सिह, हिरण, हाथी, शशक आदि पशु भी आते है और उनमे से अनेक जीव ऐसे आत्मा का स्वरूप पहिचान कर प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान से उसका अनुभव करते है। महावीर भगवान के आत्मा ने सिंह पर्याय मे ऐसा अनुभव किया था, और पार्श्वनाथ भगवान की आत्मा ने हाथी की पर्याय मे ऐसा अनुभव किया था। उस सिंह और हाथी को भी ऐसा प्रत्यक्ष – अतीन्द्रिय ज्ञान था। आज भी इस मध्यलोक मे असख्य पशु ऐसे आत्म ज्ञान सहित वर्तते हैं, मनुष्य भी करोडो अरबो हैं।

आहाहा! सम्यग्ज्ञान की शक्ति तो देखो, भाई! ऐसा ज्ञान स्वरूप आत्मा तू स्वय है। यह शरीर या राग तू नही है, अन्दर आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वही तू है। ऐसे आत्मा का ज्ञान करने का यह अवसर है। लका के राजा रावण के मुख्य हाथी

"त्रिलोकमडन" (जिसे रामचद्रजी अपने साथ अयोध्या लाये थे) को भी ऐसा आत्मज्ञान हुआ था, तथा पूर्व भव का जाति स्मरण ज्ञान भी हुआ था। यह भी आत्मा है न ? इसमे भी ज्ञान शक्ति भरी है, उसे स्वय स्व-सवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव मे लेकर उसने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट किया था।

यह सम्यग्ज्ञान का प्रकरण चलता है। सम्यक् मति-श्रुत ज्ञान स्व-सवेदन काल मे प्रत्यक्ष है और शेष काल मे परोक्ष है। अवधि और मन पर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है, वे इन्द्रियो और मन के निमित्त बिना अमुक मर्यादित क्षेत्र मे रहने वाले अमुक ही पदार्थों को, उनके अमुक ही काल और अमुक भावो को ही जानते हैं, अर्थात् वे अधूरे हैं। जितना वे जानते है उतना तो प्रत्यक्ष जानते है, किन्तु अधूरा जानते हैं इसलिए उन्हे देश प्रत्यक्ष कहते है। श्रुतज्ञान मे तो सभी पदार्थों को परोक्ष जानने की शक्ति है–ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान मे विशेष शक्ति है और केवल ज्ञान तो अद्भुत अचिन्त्य महिमा वाला सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान है।

सम्यक् मति–श्रुत ज्ञान सभी सम्यग्दृष्टि साधक जीवो को होता है, अवधिज्ञान किन्ही–किन्ही जीवो को होता है। उनमे देशावधि चारो गतियो मे होता है, नरक और स्वर्ग मे तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवो को होता है, और तिर्यच तथा मनुष्य मे किसी–किसी जीव को होता है। विशेष अवधिज्ञान (परमावधि तथा सर्वावधि) तो किसी विशेष मुनि को ही होता है। कुअवधिरूप विभगज्ञान तो देव-नारकी मे सभी जीवो को होता है, बहुत से तिर्यंचो और मनुष्यो को भी विभगज्ञान होता है उससे वे अनेक द्वीप–समुद्रो को जान सकते है परन्तु मोक्षमार्ग मे उसका कोई मूल्य नही है, वह कही वीतराग–विज्ञान नही है, वह तो अज्ञान है। सामान्य बैल आदि अज्ञानी प्राणी भी ज्ञान के कुछ उघाड से सामने वाले के मन की बात जान लेते है, वहा अज्ञानियो को आश्चर्य

उत्पन्न होता है, किन्तु अतीन्द्रिय केवलज्ञान के अद्भुत अचिन्त्य सामर्थ्य की उन्हे खबर नही है। अरे? सम्यग्दृष्टि के स्व-सवेदन में अतीन्द्रिय मति-श्रुत ज्ञान की कोई अपार शक्ति है, उसकी भी उसे खबर नही। ज्ञान तो किसे कहा जाय? जो राग से पार होकर आनन्दरस मे मग्न हुआ हो - ऐसा ज्ञान ही ज्ञान है, वह वीतराग-विज्ञान है, वही मोक्ष का कारण है। मन पर्यय ज्ञान भी किसी विशिष्ट ऋद्धिधारी मुनि के ही होता है, उसमे विपुलमति मन पर्यय ज्ञान तो चरम शरीरी मुनिराज के ही होता है। केवलज्ञानरूप महा प्रत्यक्ष ज्ञान सर्व अरहन्त और सिद्ध भगवन्तो को होता है - इस प्रकार पाच प्रकार का सम्यग्ज्ञान जानकर उसकी आराधना करो।

केवलज्ञान प्रकट करके जो परमात्मा हुए, वे पहले अनादि से से तो वहिरात्मा ही थे, उन्होने पहले तो सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, उसके साथ मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ, अर्थात् वहिरात्मापना छोड कर वे अन्तरात्मा हुए। वाद मे शुद्धोपयोग से स्वरूप मे लीन होकर चारित्ररूप मुनिदशा साधी। उसमे किसी को अवधि-मन पर्ययज्ञान प्रकट होता है और किसी को नही भी प्रकट होता, उसके साथ मोक्षमार्ग का सम्वन्ध नही है। पश्चात् शुद्धोपयोग से स्वरूप मे पूर्ण लीन होने पर वीतरागता और केवलज्ञान हुआ अर्थात् वे अरहन्त परमात्मा हुए। वे परमात्मा दिव्य शक्ति वाले केवल ज्ञान से तीन-लोक-तीनकाल को एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं। "णमोअरहताण" कहते ही ऐसी केवलज्ञान की प्रतीति साथ मे आना चाहिए, तभी अरहन्तदेव को सच्चा नमस्कार हो सकता है। पचपरमेष्ठी मे अरहत भगवान तथा सिद्ध भगवान केवलज्ञानी है। सीमंधरनाथ आदि लाखो अरहत भगवान आज भी इस मनुष्यलोक में विचर रहे हैं। ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति आत्मा के ज्ञानस्वरूप की प्रतीति पूर्वक होती है। ऐसा केवलज्ञान कैसे हो? कि सर्वज्ञ स्वभावी आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक उसका अनुभव करते-करते केवलज्ञान होता है, अन्य उपाय से केवलज्ञान नही होता। पहले सम्यग्ज्ञान

भी शुभराग से नही होता किन्तु राग रहित आत्मा के अनुभव से ही होता है, उसके बाद केवलज्ञान भी राग रहित आत्मा के अनुभव मे एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग से ही होता है – इस प्रकार पहिचाने तो ही केवलज्ञान को पहिचाना कहा जाय। राग से ज्ञान होना माने तो उसने केवलज्ञान को भी राग वाला मान लिया, क्योकि राग को कारण माना तो उसका कार्य भी र ग वाला ही होगा।

राग और ज्ञान की अत्यन्त भिन्नता जानकर ज्ञान स्वभाव का अनुभव करना वही केवलज्ञान का कारण है – इस प्रकार धर्मी जीव जानता है और वह ज्ञान के साथ राग को किंचित् भी मिलाता नही है। वीतराग–विज्ञान से वह केवलज्ञान और मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

चैतन्य की अगाध शक्ति वाला और सर्वथा राग रहित ऐसा केवलज्ञान है, उस केवलज्ञान का स्वीकार राग से नही हो सकता वह तो ज्ञान स्वभाव की सन्मुखता से ही होता है। ज्ञान स्वभाव के सन्मुख होने पर राग से भिन्न पडा अर्थात् अपने मे भेद-ज्ञान होकर सम्यग्ज्ञान हुआ, तब सर्वज्ञ की भी सच्ची पहिचान हुई। उस ज्ञान के साथ राग रहित वीतरागी सुख भी साथ ही है। सम्यक् मति–श्रुतज्ञान राग से भिन्न केवलज्ञान की जाति का है, तथा वह ज्ञान के साथ केलि करने वाला है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का स्वरूप पहिचान कर उसका सेवन करो, क्योकि जगत मे सम्यग्ज्ञा। के समान अन्य कोई भी इस जीव को सुख का कारण नही है। सम्यग्ज्ञान ही जन्म-मरण के दु खो को मिटाने वाला और मोक्ष-सुख देने वाला परम अमृत है। यह बात अगले श्लोक मे कहेगे।

सम्यग्ज्ञान की महिमा

अहो ! जीव को परमसुख का कारण सम्यग्ज्ञान है, अतः उसकी महिमा बताते हैं, तथा उसका उत्तम फल बताकर उसकी आराधना का उत्साह जागृत करते हैं —

ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारन ।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारन ।।४।।
कोटि जन्म तप तपै ज्ञान विन कर्म झरै जे ।
ज्ञानी के छिन माहि त्रिगुप्ति तै सहज टरै ते ।।
मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायौ ।।५।।

अहो ! जगत मे जीव को सम्यग्ज्ञान के समान सुख का कारण अन्य कोई नही पुण्य या पाप के भाव सुख के कारण नही, बाहर का कोई वैभव सुख का कारण नही, अन्तर मे चैतन्य का परिणमन ही जीव को सर्वत्र सुख का कारण है। जन्म-जरा-मरण के रोग का निवारण करने के लिए यह सम्यग्ज्ञान परम अमृत है। इस अमृत से जन्म-मरण का नाश करके जीव अमर पद को पाता है।

सम्यग्ज्ञान विना करोडो जन्मो मे तप तपने से अज्ञानी के जो कर्म झरते हैं, वे कर्म ज्ञानी के त्रिगुप्ति से एक एक क्षण मे सहज टल जाते हैं। सम्यग्ज्ञान के प्रताप से ज्ञानी को मन-वचन-काय से भिन्न चैतन्य परिणति सदा वर्तती है और उससे उसे सहज निर्जरा हुआ ही करती है। ऐसी निर्जरा अज्ञानी को बहुत तप से भी नही होती। अज्ञानी जीव अनन्त बार मुनिव्रत धारण करके नवमी ग्रैवेयक तक उपजा, परन्तु अपने आत्मज्ञान विना लेश मात्र भी सुख नही पाया। देखो तो सही ! अज्ञानी के पचमहाव्रत भी किंचित्

सुख के कारण नही है, कहा से हो ? वह तो शुभराग है, और राग भला सुख का कारण कैसे हो सकता है ? राग के फल मे तो बाहर के सयोग मिलते हैं और अन्दर आकुलता होती है, किन्तु कही चैतन्य की शान्ति राग से नही मिलती, वह तो चैतन्य के ज्ञान से ही मिलती है ।

अतरग मे राग से पार आत्मा के शुद्ध स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हुआ वह सम्यग्ज्ञान है, वहा बाहर का विशेप जानपना हो या न हो शास्त्र ज्ञान कम हो या विशेष, उसके साथ सबध नही है । आत्मा को जानने वाला सम्यग्ज्ञान स्वय ही सुख का कारण है । आत्मा के अतीन्द्रिय सुख के अनुभव सहित ही सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है और वह स्वय परम सुख से भरा है । आत्मा के ज्ञान के परिणमन के साथ सुख का परिणमन भी साथ ही है । सम्यग्ज्ञान के अन्दर तो चैतन्य के अनन्त भाव भरे है । अरे ! सम्यग्ज्ञान की महिमा की जगत को खबर नही है । सम्यग्ज्ञान जैसा सुखकारी तीन काल तीन लोक मे अन्य कोई नही है । पहले कहा भी था –

"तीन लोक तिहुँ काल माहि नहि दर्शन सो सुखकारी"

और यहा सम्यग्ज्ञान के लिए कहते है—

"ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण"

देखो तो सही, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की परम महिमा । उसको परमहित रूप जानकर हे भव्य जीवो ! उसकी आराधना करो ।

आत्मा के सम्यग्ज्ञान मे सर्व समाधान और परमसुख है, वह ससार का सम्पूर्ण विष उतारने वाला उत्कृष्ट अमृत है । सुख के लिए अन्य कुछ मत शोधो । अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा का सम्यग्ज्ञान करो । आनन्द की उत्पत्ति तेरे सम्यग्ज्ञान मे है । कुटुम्ब मे, पैसे मे, शरीर मे कही आनन्द मिलने वाला नही है । आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना देव लोक के देव भी दु.खी हैं, तो फिर अन्य की

क्या बात ? शुभराग, पुण्य और उसका फल – यह सब आत्मा के ज्ञान से भिन्न है, उस राग मे, पुण्य मे, पुण्य के फल मे कोई सुख माने तो उसे सच्चे ज्ञान की और सच्चे सुख की खबर नही है। ज्ञान और सुख के बहाने वह अज्ञान और दुख का ही वेदन करता है। बापू ! सुख और ज्ञान तो तेरा स्वभाव है उसकी पहचान कर, तो ही सम्यग्ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होगा। अतीन्द्रिय ज्ञान मे जो सुख है वह सुख इन्द्र पद मे नही, चक्रवर्ती पद मे नही, जगत मे अन्य कही भी नही, अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कही सुख है ही नही। सम्यग्ज्ञान मे अधिक सुख और अन्यत्र अल्प सुख – ऐसा नही है। सम्यग्ज्ञान मे सुख है, अन्यत्र कही है ही नही। इस अपेक्षा से केवली भगवन्तो को एकान्त सुखी कहा है।

अहो, सम्यग्ज्ञान तो परम अमृत है। "अमृत" अर्थात् मरण रहित मोक्ष पद, वह सम्यग्ज्ञान से प्राप्त होता है, अत सम्यग्ज्ञान परम अमृत है, वह जन्म-जरा-मरण के रोग को मेटकर मोक्ष रूपी अमर पद देने वाला है। बाहर की पढाई और लौकिक ज्ञान जिसमे काम नही आता, जो आत्मा मे से ही आता है – ऐसा यह सम्यग्ज्ञान परम अमृत है। आत्मा का स्वभाव अनाकुल आनन्दरूप अमृत है, उसमे तन्मय होकर उसको जानने वाला ज्ञान भी आनन्द रूप हुआ है, अतः वह भी परम अमृत है, और ऐसे स्वरूप को दिखाने वाली वाणी को भी उपचार से अमृत कहा जाता है। "वचनामृत वीतरागना परम शातरस मूल" ऐसी वीतराग वाणी द्वारा होने वाला आत्मा का सम्यग्ज्ञान जीव के भव रोग को मिटाने वाली अमोघ औषधि है। शरीर मे भले वृद्धावस्था हो या बालक अवस्था हो, नरक मे हो या स्वर्ग मे हो, रोगादि हो या निरोगता हो, परन्तु ऐसा सम्यग्ज्ञान सर्वत्र परम शान्ति देने वाला है।

आत्मा का ज्ञान, आनन्द सहित है, जिसमे आनन्द नही वह ज्ञान नही। जो दु.ख का कारण हो उसे ज्ञान कौन कहे ? वह तो

अज्ञान है। ज्ञान तो तीनकाल तीनलोक मे अपूर्व सुख का ही कारण होता है, वह परम अमृत है। ऐसा ज्ञान ही जन्म-मरण का नाश करके मुक्ति सुख पाने का उपार्य है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य उपाय जगत मे नही है। जो जीव पहले सिद्ध हुये है, वर्तमान मे हो रहे है और भविष्य मे होगे, वे सब भेद-ज्ञान से ही सिद्ध हुये है, हो रहे है और होगे – ऐसा जानो।

जो हो गये है सिद्ध वे सब भेद–ज्ञान प्रभाव से।
जो बध होता जीव को वह भेद–ज्ञान अभाव से॥

ऐसा जानकर हे जीव! तू अतुल धारा से भेदज्ञान को भा, रागादि से भिन्न शुद्धात्मा को जानकर उसको ही निरन्तर भा। भेद-ज्ञानी जीव सदा आत्मा के आनन्द मे केलि करता है और केलि करते-करते वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

अहो, मैं तो परमानन्द स्वरूप हूँ जगत से भिन्न और स्वय से परिपूर्ण हू, सिद्ध भगवान जैसा मेरा चैतन्य पद है, इस प्रकार जिस ज्ञान ने आत्मा की कीमत की, उस ज्ञान मे अपूर्व ज्ञानकला उघडी, उसी से वह अब शिव मार्ग को साधता है और उसे शरीर वास छूटकर सिद्ध पद प्राप्त होता है। भेद-ज्ञान कला से जीव ऐसा अनुभव करता है – "चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो" अपने ही वेदन से वह नि शक जानता है कि "ज्ञान कला उपजी अब मोहि" मुझे ज्ञान कला उपजी है उसके प्रसाद से मैं माक्ष माग को साध रहा हूँ और अल्प काल मे इस भव से छूटकर मैं सिद्ध पद को प्राप्त करूँगा।

ऐसे आत्मज्ञान की अपार महिमा और अपार कीमत जाननी चाहिए। अरे! अनन्त चैतन्य गुणो मे वसने वाला मै, इस मिट्टी के घर मे ममता करके वसना मुझे शोभा नही देता। मैं देह नही, मे तो देह से भिन्न ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ – ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर अब ज्ञान कला जगी है, उस ज्ञान कला के प्रसाद से अब इस मिट्टी

के घडे मे से छूट जाऊँगा और अशरीरी होकर सिद्धालय मे रहूँगा, फिर कभी इस शरीर मे या ससार मे नही आऊँगा। देखो ! यह सम्यग्ज्ञान का प्रसाद ! ऐसे ज्ञान के प्रसाद से मुक्ति प्राप्त होती है। सम्यग्ज्ञान के प्रताप से अब इस हाड-माँस के पिंजरे मे रहना वन्द हो जावेगा, और आनन्दमय मोक्ष महल मे सदा रहूगा। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के अमृत से जन्म-मरण का रोग मिटता है और परम सुख होता है। जगत मे जीव को ज्ञान समान अन्य कोई सुख का कारण नही है - इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की महिमा जानकर उसकी आराधना करो।

सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है, और सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक ही सच्चा चारित्र होता है। उसमे सम्यग्दर्शन तो पर से भिन्न शुद्धात्मा की श्रद्धारूप है, और पर से भिन्न निज स्वरूप का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कला है। जब आत्मा को शरीरादि से भिन्न तथा रागादि परभावो से भिन्न निज स्वरूप से अनुभव मे लिया तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हुआ। जिसने देह से भिन्न आत्मा को नही जाना और देह मे ही अपनापन मानकर रुक गया उसको आत्मा का सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नही हो सकता। शरीर से भिन्न आत्मा न जाना तो फिर शरीर रहित सिद्धपद कहाँ से पायेगा ? वह चाहे जितना व्रत-तप करे तथापि मोक्ष को नही पा सकता। उस अज्ञानी के सम्यग्ज्ञान बिना करोडो जन्मो मे तप करने से जितने कर्म खिरते हैं, उतने कर्म (उनसे भी अधिक कर्म) ज्ञानी के शुद्ध ज्ञान के बल से एक क्षण मे खिर जाते है। उसने रागादि बन्ध भावो से अपने आत्मा को भिन्न जाना है और वह मोक्षमार्गी हुआ है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से उसके अनन्त कर्मो की निर्जरा हुआ ही करती है।

सम्यग्ज्ञान ही आत्मा के सुख का कारण है। सम्यग्ज्ञान कहते ही उसके साथ का चारित्र भी सुख का कारण है - ऐसा समझ लेना

ओर ज्ञान के विना कोई भी आचरण जीव को सुख का कारण नही होता – ऐसा जानना । उस सम्यग्ज्ञान मे मति–श्रुतादि पाँच प्रकार हैं, उनमे से अवधि–मन पर्यय तो हो या न हो वास्तविक कार्य तो स्वसन्मुख मति–श्रुतज्ञान से होता है । जो पर लक्ष्य छोडकर, शुभ विकल्प से भी छूटकर, ज्ञान स्वरूप आत्मा को स्वज्ञेय वनाकर जाने वह सम्यक् मति–श्रुतज्ञान है, वह ज्ञान अतीन्द्रिय आनन्द सहित है, स्वानुभव मे प्रत्यक्ष है और मोक्ष का साधक है । हे भाई ! ज्ञान के अन्तर अभ्यास से तू ऐसे आत्मा को अनुभव मे ले । (आपो लख लीजे) भगवान द्वारा कथित तत्त्व का अन्तरग मे अभ्यास करके, सदेह रहित होकर अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा को जान । क्योंकि वारवार चिन्तामणि समान ऐसा अमूल्य अवसर मिलना कठिन है यह वात अगली गाथा मे कहेगे ।

अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा के चैतन्य स्वाद को राग से अत्यन्त भिन्न जानना ही सम्यक् मति–श्रुतज्ञान का उपाय है । ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई सुख का कारण नही है । सुख शरीर मे तो नही, शुभ राग मे भी नही, और उससे पुण्य बाँधकर उसमे मिलने वाले फल मे भी नही । भाई, यह वाहर की वस्तु तेरी नही, वह तेरे मे घुस नही गई । वह तुझसे पर है फिर भी तू उसमे ममता करके आकुलता करता है, वही दु ख है । तेरा आत्मा तो ममता से भी जुदा ज्ञान स्वरूप है, ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा का लक्ष्य करके उसका ज्ञान कर । भाई, तूने अपनी सम्हाल नही की, अज्ञान से अपने को भूलकर राग और शरीर मे धर्म मानकर अनन्त वार तूने व्रत-तप किये, महान शास्त्र भी पढे, किन्तु अपना ज्ञान स्वरूप चैतन्य भगवान आत्मा अन्दर राग से भिन्न कैसा है – उसे नही जाना, इसलिए तूने किंचित् भी सुख नही पाया, व्रतादि का शुभराग करके भी तू दु खी ही रहा, इसलिए उस राग से भिन्न दूसरा कोई सुख का उपाय खोज । वह उपाय सम्यग्ज्ञान ही है । शुभराग कही अमृत नही है,

उसमे सुख नही है, अमृत और सुख तो आत्मा के ज्ञान करने मे ही है। इसलिए कहा है –

"ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण
इहा परमामृत जन्म-जरा-मृत रोग निवारन"

अन्तर मे राग से पार आत्मा का ज्ञान करना ही अतीन्द्रिय आनन्द दाता अमृत है। चौथे गुणस्थान मे जहाँ ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ वहा केवलज्ञान की प्रतीति भी साथ आ गई, क्योकि पूर्ण ज्ञान स्वभाव के स्वीकार पूर्वक सम्यग्ज्ञान हुआ है। अहो ? अचिन्त्य सामर्थ्य वाले केवलज्ञान की प्रतीति तो राग और ज्ञान के भेद-ज्ञान से ही होती है। ज्ञान स्वभाव मे प्रतीति घुस गई, तब केवलज्ञान का सच्चा स्वीकार हुआ, उसकी परिणति राग से छूटकर ज्ञान स्वभाव मे तन्मय हुई, उसमे अब राग अथवा पर का कर्तव्य नही रहा। राग सहित केवलज्ञान की प्रतीति करे और रागादि का कर्तव्य भी रहे – ऐसा नही बनता। केवलज्ञान की प्रतीति करने वाले ज्ञान मे तो अनन्त धीरज और वीतरागता हो गई, उस भाव मे किसी पर भाव का कर्तव्य नही रहा। सर्व पर भावो से न्यारा मैं तो ज्ञान हूँ – ऐसे भेद-ज्ञान से ज्ञानी जीव वीर हुआ, वह स्वय तो अब ज्ञाता होकर सम्यग्ज्ञान रूप से ही परिणमता है, रागाधीन नही होता, राग से उसका ज्ञान दबता नही, भिन्न ही रहता है। ऐसे ज्ञान के विना जगत मे सुख नही। अरे, जिस ज्ञान ने महान अतीन्द्रिय केवलज्ञान को प्रतीति मे लिया वह ज्ञान भी कितनी अद्‌भुत शक्ति वाला है। उसमे कितनी शान्ति है। केवलज्ञान को प्रतीति मे लेकर ऐसी अपूर्व ज्ञान दशा प्रगट हो तब तो "णमो अरिहताण" – ऐसा कहना सच्चा होगा, वह जीव सच्चा जैन होकर जिन मार्ग मे चलना प्रारम्भ करता है।

केवलज्ञान वह पूर्ण ज्ञान है, मति–श्रुत ज्ञान उस ज्ञान का अवयव है, भले वह अधूरा है किन्तु है तो वह ज्ञान की ही जाति का

अर्थात् वह भी केवलज्ञान की जाति का ही है। एक ही पिता के दो पुत्रो की तरह केवलज्ञान और मतिज्ञान दोनो ज्ञान की ही जाति है, एक ज्ञान के ही परिणमन है। जिस प्रकार केवलज्ञान मे राग का कर्तृत्व नही, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के मति-श्रुतज्ञान मे भी ज्ञान से भिन्न रागादि का कर्तृत्व नही है, ज्ञान स्वभाव मे ही तन्मय होकर परिणमता हुआ उसका ज्ञान भी केवलज्ञान के समान ही राग और पर का ज्ञाता ही है। उनसे भिन्न रहकर उनको जानता है। ऐसा मति-श्रुतज्ञान अतिन्द्रिय सुख को साथ लेकर प्रकट होता है, और बाद मे वह सुख बढता-बढता केवलज्ञान होने पर परिपूर्णता को प्राप्त हो जाता है। अहो! इस ज्ञान और सुख की महिमा की क्या बात? केवलज्ञान मे ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि अनन्त जैसे आकाश को भी वह अनन्त रूप से जान लेता है, एक साथ तीनकाल, तीनलोक को जाने, तथापि कही विकल्प नही करता अपने वीतरागी चैतन्यरस मे ही लीन रहता है। ज्ञान के ऐसे स्वाद का निर्णय सम्यग्दृष्टि को ही होता है। प्रत्येक जीव मे ऐसा ज्ञान स्वभाव है, उसकी प्रतीति करके हे जीवो! उसका सेवन करो।

मति-श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि जानता है कि हम भी सर्वज्ञ पद के साधने वाले सर्वज्ञ देव के पुत्र है। गणधर-मुनिवरादि बडे पुत्र है, और हम अविरत सम्यक्त्वी छोटे पुत्र हैं, हम भी राग से जुदा पड गये हैं। ज्ञान और राग की भिन्नता के भेद-ज्ञान से राग के साथ का सबध तोडकर सर्वज्ञ पद के साथ सम्बन्ध बाँधा है इसलिए हमारा चित्त परमशान्त हुआ है, और गणधरादि की तरह हम भी प्रभु के मोक्षमार्ग मे आनन्द से चले जा रहे हैं।

गौतम गणधर को "सर्वज्ञपुत्र" कहा है। प बनारसीदासजी ने भी सम्यग्दृष्टि को "जिनेश्वर का लघुनन्दन" कहा है। मुनिराज तो ज्येष्ठ पुत्र हैं और सम्यग्दृष्टि – चौथे गुणस्थानवाले कनिष्ठ पुत्र हैं, भले छोटे हैं किन्तु हैं सर्वज्ञपुत्र ही, सर्वज्ञ की जाति के ही। जैसे सिंह

का छोटा बच्चा भी वडे हाथी को भगा देता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि भले छोटा है, किन्तु है सर्वज्ञ का पुत्र, उसका ज्ञान भले थोडा है किन्तु है सर्वज्ञ की जाति का सम्यग्ज्ञान ही, वह सम्पूर्ण मोह रूपी हाथी को भगाकर मोक्ष को साधे – ऐसी शक्ति वाला है, रागादि विकल्पो को अपने ज्ञान से वह भिन्न जानता है। जड क्रिया मैं नही राग मैं नही, मैं तो ज्ञान हूँ, पर के पास से मेरी परिणति मुझे लेनी नही और पर की परिणति को मैं करता नही। मेरे ज्ञान को और राग को ज्ञाता-ज्ञेयपना है, किन्तु कर्ता-कर्मपना नही है, एकपना नही है, भिन्नपना है – ऐसे भेद-ज्ञान से जो भेदज्ञानी हुआ उसने अपने चैतन्य के अमृत का स्वाद चखा, तव विप जैसे विषयो का रस उसको नही रहा। जैसे प. वनारसीदास जी पहले अज्ञानदशा मे विषय-विलासी थे, परन्तु जब अन्तर मे आत्मा का भान हुआ, सत्य स्वरूप समझ मे आया और आत्मा के ज्ञान का वीतरागी सुख चखा, तो विषयो से विरक्ति हो गई, तब उन्होने कहा –

ज्ञानकला उपजी अब मोहि कहूँ गुण नाटक आगम केरो,
जासु प्रसाद सधै शिवमारग वेग मिटे भव वास बसेरो ॥

इस आत्मा को सिद्ध समान होने पर भी अज्ञान से मोह दशा मे अनन्त काल व्यतीत हो गया, परन्तु अब हमको सम्यज्ञानकला प्रकटी है, इसलिए हम आत्मा के आनद का अनुभव करते-करते शिवमार्ग मे जा रहे हैं। देखो, यह सम्यग्दृष्टि की निशकता। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ वह तो सर्वज्ञ परमात्मा का वशज हो गया, वह जगत मे प्रशसनीय है। सम्यग्ज्ञान, चाहे वह केवलज्ञान हो, चाहे मति-श्रुतज्ञान हो, वह आत्मा के सुख का दातार है। सम्यग्ज्ञान के साथ सदा चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख होता है, उस जैसा सुख जगत मे कोई नही है। जिसे ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ, उसके हाथ मे जन्म-मरण के नाश का उपाय आ गया। सम्यग्ज्ञान के बिना जीव चाहे कितनी शुभ क्रियाये करे तो भी जन्म-मरण का अन्त नही हो सकता। अत.

हे जीवो ! जन्म-मरण का नाश करने के लिए तुम सम्यग्ज्ञान का सेवन करो ।

अरे ! सम्यग्ज्ञान के विना स्वर्ग का देव भी दु खी ही है, चैतन्य के सुख का अश भी वहाँ नही है । जिसको आत्मज्ञान नही है वह जीव त्यागी होकर तप तपे और स्वर्ग मे जावे तथापि लेश मात्र सुख प्राप्त नही करता । तप मे भी वह "तपता" ही है, चैतन्य की शान्ति मे ठहरता नही, किन्तु परभाव मे तपता है – जलता है । चैतन्य के प्रतपनरूप सच्चे तप मे तो परम शान्ति का वेदन होता है, अतीन्द्रिय शान्ति के बरफ मे आत्मा ऐसा ठहरता है कि बाहर का लक्ष्य भी नही रहता, यही सच्चा तप है । इस तप का तो जिसे भान नही, उसे अज्ञान सहित व्रत-तपादि शुभ क्रियाओ मे जो कर्म खपते हैं, वे कर्म ज्ञानी को तो सहज मात्रा मे खप जाते हैं । त्रिगुप्ति अर्थात् मन-वचन-काय से भिन्न ज्ञान परिणति, उसके कारण ज्ञानी को कर्मों की निर्जरा होती ही रहती है – ऐसा जानना । मेरी चैतन्य वस्तु कर्म रहित है, इसका जिसको विचार भी नही, उसे भला कर्मो की वास्तविक निर्जरा कैसे हो सकती है ? नवीन बध पूर्वक होने वाली निर्जरा ही सच्ची निर्जरा है । और वह ज्ञानी को होती है ।

मनुष्य होकर जैनकुल जैसे उत्तम कुल मे जन्म लेने का महान सौभाग्य मिला हो, एक करोड पूर्व की आयु हो और आठ वर्ष की उम्र मे आत्मा के ज्ञान विना मुनि दीक्षा लेकर जीवन भर द्रव्यलिंगपने पचमहाव्रतो का भलीभाति पालन करे, तप करे छह-छह माह के उपवास किया करे – इस प्रकार शुभराग की क्रियाये बराबर करे (और वह भी एक बार नही अपितु ससार मे भटकते-भटकते करोडो भव तक करे) और उससे जितने कुछ कर्म निर्जरित हो, अर्थात मिथ्यात्वादि नवीन कर्मों के बधन सहित पुराने कर्म निर्जरित हो उनकी अपेक्षा ज्ञानी के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के कारण एक उच्छवास मात्र मे अनन्त गुणे कर्म खिर जाते है और

मिथ्यात्वादि नवीन कर्म तो उसके वधते ही नहीं। अज्ञानी महाव्रती हो तथापि उसके मिथ्यात्व कर्म तो बँधा ही करता है, जवकि ज्ञानी अव्रती हो फिर भी उसके मिथ्यात्वादि कर्म नही बँधते और अज्ञानी की अपेक्षा उसके बहुत कर्म खिर जाते है।

राग से जुदा पडी हुई ज्ञान चेतना जव ज्ञानी के अन्तर मे जगी, तव अनन्त कर्म खिर जाते है। अरे, ज्ञान चेतना की अपार महिमा की जगत को खवर नही है, ज्ञान चेतना अनादि के ससार को एक क्षण मे काट देती है और अल्प काल मे अनन्त काल के मोक्ष सुख को प्रदान करती है। अज्ञान भाव से जीव करोडो-अरवो वर्ष तक शुभ क्रिया करे तथापि उसके भव कट्टी[1] नही होती, और आत्मा के सच्चे सुख का अश भी प्रकट नही होता। अज्ञानी जीव इस प्रकार अनन्त बार नवमी ग्रैवेयक गया तो भी, शास्त्र कहते हैं कि आत्मज्ञान विना उसने लेशमात्र भी सुख नही पाया, अर्थात् महाव्रतादि शुभ क्रिया करके भी अज्ञान के कारण मात्र दु ख ही भोगा, उसे रच भी धर्म नही हुआ। अरे! अज्ञान से सुख या धर्म कहाँ से होगा? जिसको शुद्ध स्वभाव का अनुभव है – ऐसा ज्ञानी विकल्प से पार होकर ज्ञान स्वरूप मे एक क्षण भी ज्ञान को एकाग्र करे तो अनन्त कर्म छूट जाते है और उसके ज्ञान मे चैतन्य के अतिन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है।

ज्ञान जब निर्विकल्प शुद्ध उपयागरूप होकर अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव मे ठहरा, उस दशा की तो बात क्या? उसके अतिरिक्त काल मे भी ज्ञानी के सुगमता से बहुत कर्म खिरते ही रहते है। अज्ञानी को कष्ट सहन करते हुए भी मोक्ष के कारण स्वरूप निर्जरा नही होती, जबकि ज्ञानी को कष्ट विना सहजपने कर्म छूट जाते है। अरे, मोक्ष की साधनभूत निर्जरा मे तो आनन्द का वेदन होगा

---

१. भवट्टी = भव का अभाव

कष्ट का नही, तप मे कष्ट कैसा ? तप मे तो आनन्द ही है। जहा कष्ट लगे वहा तो आर्त्तध्यान है । धर्मध्यान मे तो आनन्द है, शान्ति है। ऐसी शान्ति के वेदन से ज्ञानी के क्षरण भर मे अनन्त कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अरे, ज्ञान की कीमत की जगत को खबर नही है। राग से भिन्न परिणमित सम्यग्ज्ञान अचिन्त्य शक्ति वाला है, परम शान्ति वाला है। भगवान ! तू जाग। अपने ज्ञान की जागृत दशा कर। इसके विना शुभराग से तुझे कोई लाभ होने वाला नही है। जहा सम्यग्दर्शन नही, आत्मा का आनन्द नही, ऐसे अज्ञान सहित महाव्रत जीव ने अनन्त बार धारण किए और नवमी ग्रैवेयक तक गया, परन्तु किंचित मात्र भी सुख वहा नही पाया। राग के फल मे सुख कहा से मिले ? बापू ! चैतन्य का अनुभव राग से पार है, चैतन्य का सुख राग से पार है, चैतन्य का धर्म राग से पार है। अज्ञानी ने महाव्रत किए, दान-पूजादि किए, किन्तु वह तो विकल्प है, राग है, वह कही चैतन्य के स्वभाव की जाति नही है, भिन्न जाति है अर्थात् कुजाति है। देखो, सन्त जन सत्य वस्तु को प्रसिद्ध कर रहे है कि हे भाई ! पुण्य के राग से पार ऐसे आत्मा के ज्ञान बिना तेरे द्वारा अनन्त बार महाव्रत धारण करने पर भी सुख का लेश भी तुझे मिला नही, क्योकि तूने राग से पार ज्ञान का किंचित् भी सेवन नही किया। दुख के कारण भूत राग का ही सेवन किया। जिसमे राग की क्रिया ही नही, ऐसे ज्ञान स्वरूप भगवान आत्मा को नही जाना, और राग के सेवन मे हित मानकर सन्तुष्ट हो गया, इसलिए तेरा अनन्त काल सुख बिना बीत गया। अब ऐसा अवसर पाकर तू चेत चेत ! अपनी आत्मा का लक्ष्य करके आत्मा का ज्ञान कर। ऐसे ज्ञान से तुझे अपूर्व सखका अनुभव होगा।

जहाँ राग – विकल्प का कर्त्तृत्व है वहाँ ससार है। देह की क्रिया अथवा विकल्प का कर्ता मै नही, विकल्प से पार आनन्द स्वरूप सम्यग्ज्ञान ज्योति मैं हूँ, ऐसी वस्तु का अनुभव अर्थात् श्रद्धा ज्ञान

विना कुछ भी हाथ आने वाला नही है । आत्म ज्ञान विना यह जीव व्रतादि करके स्वर्ग मे गया फिर भी उसका जन्म-मरणरूप परिभ्रमण तो खडा ही रहा, उसका अन्त तो आया ही नही और सुख का अश भी मिला नही । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा अव्रती गृहस्थ हो, उसके कुटुम्ब-परिवार हो, त्यागी न हो, तथापि अन्तर मे राग से पार चैतन्य तत्व मै हूँ – ऐसे ज्ञान और अनुभव के वल से वह अल्पकाल मे चारित्र दशा प्रकट करके, मुनि होकर, राग को सर्वथा तोडकर मुक्ति प्राप्त करेगा । देखो तो सही, यह सम्यग्ज्ञान की महिमा ! ज्ञान तो महान अमृत है, उस जैसा सुख जगत मे किसी विषय मे नही है, शुभराग मे भी नही है । ऐसा ज्ञान ही जन्म-मरण का रोग नाश करने की परमौषधि है ।

देवलोक मे १६ स्वर्ग से ऊपर नवग्रैवेयक के देवस्थान हैं, वहाँ मिथ्यादृष्टि भी साधु होकर अनन्त वार गया, यद्यपि नवग्रैवेयक मे सभी जीव मिथ्यादृष्टि नही हैं, वहाँ सम्यग्दृष्टि ही अधिक है, मिथ्यादृष्टि तो थोडे ही है । महाव्रत धारण किए विना कोई जीव वहाँ नही जा सकता । ऐसे देवलोक मे अज्ञानी जीव द्रव्य साधु होकर महाव्रत पालन करके गया, किन्तु अन्दर राग से और पुण्य से भिन्न अपना आत्मा कैसा है, यह नही जाना । ग्यारह अग और नवपूर्व तक का शास्त्र ज्ञान किया, फिर भी उससे लेश भी सुख नही पाया । देवलोक मे असख्य वर्ष रहा, परन्तु सुख किंचित् भी नही पाया । हाँ, कोई जीव वहा आत्मज्ञान प्रकट करे और सुख पावे – वह दूसरी वात है । परन्तु वह सुख तो आत्मज्ञान से पाया है, कही शुभ राग के कारण से नही । आत्मा स्वय सुख है, उसमे परिणाम न जोडे तो शास्त्र का जानपना अथवा व्रतादि शुभराग क्या करेगे ? अर्थात् इनसे क्या लाभ होगा ? भाई, अपने सुख-समुद्र आत्मा मे उपयोग को जोडने पर तुझे अपूर्व शन्ति वेदन मे आयेगी – ऐसे ज्ञान को आत्मज्ञान कहते हैं और वही सुख का कारण है ।

महाव्रत पालन करके ग्रैवेयक मे जाने पर भी जीव को लेश भी सुख प्राप्त नही हुआ। यह कही अकेले अभव्य की बात नही है, अभव्य की तरह भव्य जीव भी अज्ञानपने द्रव्य साधु होकर महाव्रत पालकर अनन्त बार ग्रैवेयक मे गया है, किन्तु आत्मज्ञान के विना लेश मात्र भी सुख नही मिला। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है –

यम नियम सयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो।
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ आसन पद्म लगाय दियो।
सब शास्त्रनि के नय धारि हिये, मत मडन खडन भेद लिए।
यह साधन बार अनन्त किए, तदपि कछु हाथ हजू न पर्‌यो।
अब क्यो न विचारत है मन से, कुछ और रहा उन साधन से।

हे भाई, शुभराग की जो बात अनन्त बार करने पर भी तेरे हाथ मे कुछ भी सुख नही आया, तेरे भव का अन्त नही आया, तो तू विचार कर कि इसके अतिरिक्त अन्य कुछ साधन शेष रह गया है, और वह साधन है आत्मज्ञान, जिसे यहा बतलाते हैं।

आगम में भगवान ने भी ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। कारण कि जो परमार्थ ज्ञान से रहित है ऐसे अज्ञानी के व्रत-तप को बालव्रत और बालतप कहा है, अर्थात् वह मोक्ष का कारण नही – ऐसा कहा है। अज्ञानी के महाव्रत को तो "बालव्रत" कहा है। ऐसे बालव्रत अर्थात् अज्ञानव्रत को मोक्ष का कारण कैसे कहा जाय ? नही कह सकते।

प्रश्न – अज्ञानी के व्रत मोक्ष के कारण नही होते – यह बात तो ठीक है और जचती भी है, परन्तु ज्ञानी के व्रत तो मोक्ष के कारण होते हैं न ?

उत्तर – नही भाई, ज्ञानी को मोक्ष का कारण तो उसका ज्ञान परिणमन है, कही व्रतादि का शुभराग मोक्ष का कारण नही है। राग तो वन्ध का ही कारण है, राग के समय उस राग से भिन्न

परिणमन करता हुआ जो शुद्ध ज्ञान (अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) है वही मोक्ष का कारण है – ऐसा जानना। इस सम्बन्ध मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं –

व्रत नियम को धारे भले, तप शील को भी आचरे।
परमार्थ से जो बाह्य वह, निर्वाण प्राप्ति नहि करे ॥

अन्तर में जिसको शुद्धात्मा का ज्ञान नही अर्थात् जो अज्ञानरूप ही वर्तता है, ऐसा जीव व्रत-तप आदि शुभ कर्म करते हुए भी मोक्ष को नही पाता, इसलिए शुभ कर्म मोक्ष का कारण नही है। शुद्धात्मा के अनुभव से ज्ञानरूप हुआ ज्ञानी, व्रतादि शुभ कर्म न होने पर भी ज्ञान परिणमन से मोक्ष को पाता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान परिणमन मे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनो समा जाते हैं, किन्तु उसमे व्रतादि का शुभराग नही समाता, क्योकि वह ज्ञान से भिन्न है। ऐसे ज्ञानमय मोक्षकारण को जो नहीं जानते वे अज्ञान से पुण्य को मोक्ष का कारण मानते है, अर्थात् वे राग का ही सेवन करते हैं, ज्ञान का सेवन नही करते। भाई ! राग का सेवन तो ससार का ही कारण है, उसे तू मोक्ष का साधन मानता है वही अज्ञान है, ऐसा साधन तो तूने अनन्त बार किया है फिर भी मोक्ष क्यो नही पाया ? मोक्ष का सच्चा साधन आत्मा का सम्यग्ज्ञान है – ऐसा समझकर उस ज्ञान का सेवन करो। ज्ञान चेतनारूप धर्म ही भूतार्थ धर्म है, वही कर्म से छूटने का कारण है। शुभ कर्मरूप कर्मचेतना तो कर्म-बन्ध और ससार भोग का कारण है, वह कही मोक्ष का कारण नही है। अरे भाई ! मोक्ष के सच्चे मार्ग को तो तू जान ! अपने सुख के सच्चे उपाय को तो पहिचान।

शास्त्र पठन करते हुए और पच महाव्रत पालते हुए अज्ञानी जीव शुद्धात्मा के ज्ञान-श्रद्धान से शून्य है और ज्ञान-श्रद्धानरूप बीज के बिना चारित्ररूप वृक्ष कहा से उगेगा ? चारित्र का मूल तो शुद्धात्मा का ज्ञान-श्रद्धान ही है और वह अज्ञानी के है नही। अरे ! जहाँ

ज्ञान का अनुभव नही और रागरूप परिणमन ही वर्तता है, वहाँ शास्त्र पठन अथवा व्रत–महाव्रत से भी जीव को क्या लाभ ? उसमे ज्ञानचेतनारूप आत्मा तो आया ही नही, और आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान अनुभव बिना सुख होगा ही कहाँ से ? भाई, तू ज्ञान की कीमत करके आत्मा को जान । राग से भिन्न पडकर ज्ञानचेतनारूप होकर आत्मा का स्वाद ले । राग का तो अनन्तकाल से तूने अनुभव किया है, अव राग से पार चैतन्य का स्वाद तो ले । एक बार तो इस चैतन्य का मधुर स्वाद चख ले । इसी से तुझे वीतराग-विज्ञान रूप सच्चा सुख मिलेगा, ऐसा कोई अपूर्व सुख होगा जो राग मे कभी अनुभव मे नही आया । अन्तर मे राग से पार चैतन्य सुख का स्वाद कैसा है उसके अनुभव का पुन पुन अभ्यास करना चाहिए । आत्मा की सच्ची लगन से ऐसा अभ्यास करने पर अन्दर अवश्य अनुभव होगा, और भव दुख का नाश होगा ।

जिस अज्ञानी ने ११ अग पढ उसके पच महाव्रत आगमानुकूल थे, उसके माने हुए देव–शास्त्र–गुरु तीनो सच्चे थे, उसे कुदेव-कुगुरु कुमार्ग की श्रद्धा स्वप्न मे भी नही होती, वह जैन मार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्ग को स्वप्न मे भी नही मानता । कुदेवादिक को मानने वाले को तो ११ अग का ज्ञान होता ही नही । वह जैन-मार्ग के व्यवहार मे आया, किन्तु अन्दर आत्मा की तरफ ज्ञान को झुकाकर आत्मा को नही जाना, अत अज्ञानी ही रहा, परमार्थ से वाहर ही रहा, अर्थात् मोक्ष के मार्ग मे नही आया । उसने शास्त्रो को तो पढा परन्तु निजात्मा को नही जाना इसलिए उसे लेश भी सुख नही मिला, अत उसका शास्त्र-पठन भी वास्तव मे निष्फल ही गया । शास्त्र-पठन का वास्तविक फल तो यह था कि ज्ञानमय शुद्धात्मा को जानकर आनन्द का वेदन हो – यह फल तो उसे प्राप्त हुआ नही । अरे ! अपनी दृष्टि स्वय ही न वदले तो शास्त्र भी क्या करे ? अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा मे है, उसकी सन्मुखता बिना जीव ने किंचित् भी सुख नही पाया, अर्थात् मात्र दुख ही पाया ।

पुण्य करके भी दु ख ही पाया ? हा, राग मे तो दु ख ही है न । राग भले शुभ हो, परन्तु उस राग से सुख तो नही मिलता, राग तो दु ख ही है । राग से पार चैतन्य तत्व है, वह स्वय सुख का सागर है, उसके ज्ञान से सुख मिलता है । ज्ञान का अर्थ है स्वसन्मुख होकर उसका अनुभव करना । शास्त्र पढ-पढ कर भी जो स्वसन्मुख नही हुआ और शुद्धात्मा लक्षगत नही किया तो उस जीव ने क्या पढा ? शास्त्र जो बतलाना चाहते हैं उस ज्ञानमय आत्मा को तो लक्ष्य मे लिया ही नही । अनन्त सुख का धाम आत्मा स्वय है उसमे उतर कर उस सुख का एक अश भी चखे तब तो ससार का अन्त ही आ जावे । राग से भिन्न पडकर ज्ञान-चेतनारूप हो तभी चैतन्य सुख का स्वाद आवे । अनन्त सुखमय चैतन्य का अनुभव करने से सुख का अश जिसने चखा वह पूर्ण सुख प्राप्त करेगा ही ।

ऐसा सुख सम्यग्ज्ञान से ही होता है, और उसे प्रकट करने से परिभ्रमण का दु ख मिट जाता है । एक क्षण भी चैतन्य का सुख चखे तो अनन्त काल ससार की थकान मिट जाय । अहा ! जिस चैतन्य के सन्मुख होने पर ऐसा अपूर्व अतीन्द्रिय परम सुख अनुभव मे आया – वह अल्प सुख भी ऐसा अलौकिक है तो पूर्ण सुख की क्या बात ? चैतन्य का स्वभाव स्वय अलौकिक सुख का सागर है – ऐसा धर्मी जानता है । अहा, यह अलौकिक चैतन्य तत्व, पूर्ण सुख का समुद्र, उसकी अलौकिक महिमा की बात क्या ! ऐसे आत्मा के सन्मुख होकर स्वय अपना ज्ञान करना वही परम सुख है । इसके बिना जीव चाहे जितना क्रियाकाड करे परन्तु सुखी नही हो सकता ।

आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसके ज्ञान बिना राग में खडे रहकर जीव अनन्त काल से जो कुछ भी आचरण करता आ रहा है उसमे वह दु खी ही हुआ है । ससार परिभ्रमण के अनन्त अवतार मे मनुष्य भव तो कभी-कभी ही मिलता है, ऐसा मनुष्य भव

पाकर भी अज्ञान से जीव ने उसे गँवा दिया। जीव ने अनन्त वार मनुष्यपना पाया और उसमे अनेक भव मे दिगम्बर मुनि होकर महाव्रत पाले, शास्त्र पठन किया, देव-गुरु-धर्म की व्यवहार श्रद्धा भी की, परन्तु इतना करने पर भी उसे आनन्द क्यो नही आया ? और उसका भव भ्रमण क्यो नही मिटा ? तो कहते है कि सभी पराश्रित भावो से पार चैतन्य तत्व आत्मा स्वय कौन है ? यह उसने स्व सन्मुख होकर कभी जाना नही, इसलिए आत्मज्ञान विना लेश भी सुख प्राप्त नही हुआ और भव भ्रमण का दु ख भी नही मिटा। वह ऊँचे स्वर्गो मे भी गया परन्तु स्वर्ग मे जाने से कही सुख नही मिल जाता। सुख नही हुआ। अर्थात् धर्म नही हुआ धर्म होने पर तो आत्मा के सुख का वेदन होगा ही, जहाँ सुख नही वहाँ धर्म नही और आत्मा के ज्ञान विना सुख नही।

आत्मा को जाना नही और आत्मा से वाहर रहकर, परभाव मे – राग मे रहकर, जीव ने अनन्त वार मनुष्य भव गँवाया। यदि चैतन्य स्वभाव के सन्मुख हो तो महान सुख क्षण मात्र मे हो जाय और कर्म टलकर ससार का किनारा दिखाई पड जाय। पुण्य से कभी ससार का अन्त नही आता और सुख का अश भी नही मिलता सम्यग्ज्ञान से ही ससार का अन्त आकर अपूर्व अलौकिक सुख प्राप्त होता है।

विषय-कषायरूप पाप के अशुभ भावोमे भव गँवावे, अथवा कुगुरु-कुदेव के सेवन मे जीवन गँवावे, उसकी तो यहा वात ही नही है। यहाँ तो कहते है, कि सच्चे वीतराग देव-गुरु को ही माने, अन्य को न माने, विषय-कषाय के पापभाव छोडकर व्रत-शीलादि के शुभ भाव मे लवलीन रहे और उसमे ही सन्तोष माने कि इसी से अव मोक्ष हो जायेगा, परन्तु यदि उन व्रतादि के शुभराग से पार ज्ञान-चेतना का अनुभव न करे तो वह जीव भी सुख नही प्राप्त कर सकता। वह स्वर्ग मे जाता है, परन्तु इससे क्या ? सुख तो राग रहित चैतन्य परिणति मे है, कही स्वर्ग के वैभव मे सुख नही है।

यह किसकी बात है ? तेरी अपनी ही बात है। बापू ! तू स्वय ज्ञान चेतना स्वरूप है। ज्ञान चेतना स्वय परमसुख मे निमग्न है, ऐसी ज्ञान चेतना के अनुभव बिना तू अनन्त बार शुभ भाव कर चुका है। शुभ के साथ अज्ञान पडा है अर्थात् राग मे सर्वस्व मान कर राग रहित सम्पूर्ण ज्ञान स्वभाव का तू अनादर कर रहा है। सम्यग्ज्ञान बिना राग मे तो सुख कहा से होगा ? शुभराग मे ऐसी शक्ति नही कि अज्ञान रूपी अन्धकार अथवा दु ख को दूर कर सके। ज्ञान वस्तु राग से भिन्न है, उस ज्ञान चेतना के प्रकाश से ही अज्ञानाधकार टलता है और सुख प्रकट होता है। निजानन्दी ज्ञान स्वरूप आत्मा की तरफ झुककर सम्यग्ज्ञान चेतना प्रकट किए बिना सुख प्राप्त नही हो सकता।

अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड आत्मा स्वय है। राग मे किंचित् भी सुख नही है। राग मे से अथवा कही बाह्य मे से सुख लेना चाहे तो "सुख की सत्ता आत्मा मे है" – इसका अस्वीकार हो जाता है। अरे, जहा सुख है, जो स्वय सुखस्वरूप है, उसका स्वीकार किए बिना सुख कहा से और कैसे होगा ?

प्रश्न —शुभराग मे सुख भले न हो परन्तु दुःख तो नही है ?

उत्तर.—अरे, भाई ! इसमे आकुलता रूपी दु ख ही है। जड मे तो सुख–दुख का अनुभव है नही, चैतन्य तत्व अपने ज्ञान स्वभाव से सुख का वेदन करता है, और अज्ञान भाव से दु ख का वेदन करता है। भेद-ज्ञान सिद्ध सुख का कारण है, और भेद-ज्ञान का अभाव अर्थात् अज्ञान वह ससार-दु ख का कारण है। जहाँ चैतन्य के ज्ञान की शान्ति का वेदन नही वहाँ कषाय है, भले अशुभ हो या शुभ हो, परन्तु जो कषाय है वह तो दु ख ही है। शुभ कषाय को शान्ति तो नही कह सकते। आत्मा के ज्ञान से क्षण मात्र मे करोडो भव के कर्म छूट जाते हैं और सम्यग्ज्ञान बिना करोडो वर्ष के तप से भी सुख का अश भी नही मिलता। देखो तो सही, ज्ञान की अपार

महिमा ! अज्ञानी जीव को ज्ञान की महिमा की खवर नही है, उसे राग दिखाई पडता है, किन्तु राग से पार होकर अन्दर चैतन्यमय अपूर्व महिमावन्त ज्ञान उसे दिखाई नही पडता। अत कहते है कि हे भाई ! मोक्ष का कारण तो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान सहित का चारित्र है। सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान विना तो आचरण थोथा है, उसमे लेश भी सुख नही है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की महिमा जानकर उसे परम अमृतरूप जानकर उसका सेवन करो।

यह रत्नचिन्तामणि जैसी मनुष्य पर्याय पाकर तथा जिनवाणी का श्रवण करके, हे जीवो ! तुम इस दुर्लभ सम्यग्ज्ञान का अभ्यास करो और आत्मा को पहिचान लो – ऐसा अव अग्रिम छन्द मे कहेंगे।

तत्त्व अभ्यास की प्रेरणा

तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे ।
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे ।।
यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवाणी ।
इहविधि गये न मिले सुमणि ज्यो उदधि समानी ।।६।।

सम्यग्ज्ञान ही सुख का कारण है – ऐसा जानकर, उस सम्यग्ज्ञान के लिए जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए तत्त्व का अभ्यास करो, और संशय-विभ्रम-विमोह छोडकर आत्मा का स्वरूप पहिचान लो।

ऐसा मनुष्य अवतार, उत्तम कुल, जिनवाणी के श्रवण का सुयोग वारवार मिलना कठिन है। यदि सम्यग्ज्ञान विना इस अवसर को गँवा दिया तो जिस प्रकार समुद्र मे डूवा हुआ उत्तम मणि फिर से प्राप्ति करना कठिन है उसी प्रकार इस भव समुद्र मे मनुष्व अवतार और जिनवाणी का श्रवण करने के लिए पुन. अवकाश मिलना अत्यन्त कठिन है।

वीतराग-विज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र इस जीव को मिथ्यात्वादि दु खदाई भावो से रक्षा करने के लिए ढाल के समान हैं – उसका वर्णन इस छहढाला मे है। उसमे से इस चौथी ढाल मे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए उपदेश चल रहा है। अरे, जीव ! इन भयकर भवदु खो से यदि तू अपने आत्मा की रक्षा करना चाहता है तो इस सम्यग्ज्ञान का सेवन कर। "आपो लख लीजे" अर्थात् आत्मा का स्वरूप पहिचान कर सम्यग्ज्ञान प्रकट कर। आत्मा का ज्ञान ही जीव को सच्चे सुख का कारण है, इसके विना अन्य किसी भी उपाय से किंचित् भी सुख मिलने वाला नही है। अत हे जीव ! तू जिनदेव के द्वारा कहे गए जीवादि तत्वो का वरावर अभ्यास करके अपनी आत्मा को पहिचान ले।

जिनवर अरिहन्तदेव तीर्थंकर परमात्मा का प्रवाह अनादि से जगत मे चलता आ रहा है। अनन्त तीर्थंकर हुए, अब भी मनुष्य क्षेत्र मे सीमधरादि बीस तीर्थंकर भगवन्त तथा लाखो अरिहन्त केवली भगवन्त विचर रहे है। यहाँ इस भरत क्षेत्र मे भी ढाई हजार वर्ष पहले महावीर तीर्थंकर हुए। ऐसे जिन भगवन्तो ने जिन जीवादि तत्त्वो को जाना और उपदेश दिया, उन्ही तत्त्वो का उपदेश कुन्दकुन्दचार्य आदि वीतरागी सन्तो की परम्परा से आज भी चल रहा है। अरे जीव ! ऐसा मनुष्य अवतार, ऐसा जैनकुल और ऐसा वीतरागी जिनोपदेश पाकर तू अब उसको समुद्र मे फेके गए चिन्तामरिण के समान व्यर्थ मत गँवा। अब तो आत्मा को पहिचान ले। जिस प्रकार महाभाग्य से चिन्तामरिण रत्न हाथ मे आया हो तव उससे अपना कार्य साधने के बदले कोई मूर्ख उसे समुद्र मे फेक दे, उसी प्रकार उत्तम चिन्तामणि जैसा यह मनुष्य अवतार पाकर तू वैसी मूर्खता मत कर, क्योकि पुन. पुन ऐसा अवसर मिलना कठिन है। इसलिए इस सुयोग मे वीतरागी जिनवाणी सुनकर, भगवान कथित तत्त्वो का सच्चा अभ्यास करके आत्मा को पहिचान ले। आत्मा को पहिचान कर सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान प्रकट करते ही तुझे

चैतन्य का अमृत सुख मिलेगा और तेरे भवदुख का अन्त आ जावेगा।

अरे, आजकल तो जैनकुल मे जन्मे भी बहुत से लोग कुमार्ग मे फँस रहे है, जिन भगवान के कहे हुए सत् का व्यवहार निर्णय भी नही करते, सत् तत्व बहुत कठिन पड गया है। ऐसा कठिन सत्य तुझे महाभाग्य से मिला है, अत तू अपने आत्मा का हित साध ले। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने हाथ मे चिन्तामणि रत्न आया है, तो उसको विषय–कषाय के समुद्र मे मत फेक। चिन्तामणि जैसी जिनवाणी के द्वारा आत्मचिन्तवन करके उसे पहिचान ले।

प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतत्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होता है, किसी का किसी मे मिलता नही है – इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप जिनवर देव के मार्ग मे ही है, उसको तू जान। द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप वस्तु कैसी है उसे तू पहिचान। रागादि अशुद्धता, सम्यक्त्वादि शुद्धता, और शरीरादि मे जडता, उन सबको एक दूसरे मे मिलाए बिना जैसा है वैसा पहिचान, और उसमे से आत्मा का वास्तविका स्वरूप जान। अजीव से भिन्न और रागादि से भी रहित ऐसे शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को पहिचान। आत्मा को बराबर पहिचान कर सन्देहादि दोषो से रहित सम्यग्ज्ञान प्रगट कर, उससे तुझे परम सुख प्राप्त होगा।

जीव–अजीव आदि अनन्त पदार्थों से स्वय से सिद्ध ऐसा यह विश्व, उसमे प्रत्येक पदार्थ स्वभाव से ही अपने-अपने धर्मरूप है। भिन्न-भिन्न अनन्त जीव है, प्रत्येक जीव मे अपने-अपने अनन्त गुण और पर्याय हैं, प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवता स्वरूप है। और ससारी जीव एक गति मे से दूसरी गति मे पुनर्भव धारण करता है, जब वह वीतरागभाव प्रगट करके मुक्त होता है तब भवरहित सिद्धपद मे स्थिर हो जाता है और फिर कभी ससार मे अवतार नही लेता, कभी राग-द्वेष नही करता, जगत का कर्ता-हर्ता नही

बनता । इस प्रकार जिनवरदेव के शासन मे कहा गया वस्तु स्वरूप जानना चाहिए, इसी मे मनुष्य जन्म की सफलता है ।

आत्मा मे एक गुण होगा कि अनन्त गुण होगे ? आत्मा स्वतत्र होगा कि किसी ईश्वर ने बनाया होगा ? परभव होगा कि नही ? आत्मा नित्य होगा या इस देह जितना ही होगा ? इस शरीर जितने छोटे क्षेत्र मे अनन्त गुण कैसे रहते होगे ? एक-एक गुण मे अनन्त शक्तिया किस प्रकार होगी ? अनेकान्त किस प्रकार होगा ? आत्मा पर्याय वाला होगा या पर्याय रहित होगा ? शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण होगा या शुभ राग भी मोक्ष का कारण होगा ? भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप यथार्थ तत्त्व को जाने तो ज्ञान मे इस प्रकार का कोई सदेह, विपरीतता या अध्यवसाय नही रहेगा, अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रकट होगा । सम्यग्ज्ञान होने पर धर्मी जीव को आत्मा के स्वरूप मे कोई सदेह नही रहता, क्योकि आत्मा स्वसवेदन से स्वयं साक्षात् अनुभूत वस्तु है ।

अहा ! जगत के बीच मे निरालम्बी लोक, उसके असंख्य प्रदेश मे अनन्तानन्त आत्माये, उनमे प्रत्येक आत्मा भिन्न, स्वतत्र, स्वाधीन और अपने अनन्त गुण-पर्यायो सहित है – ऐसा अलौकिक वस्तु स्वरूप भगवान सर्वज्ञ के मार्ग के अतिरिक्त अन्य कही नही है । आत्मा कभी शरीरादि रूप अथवा कर्म रूप नही हुआ, जड सदा जड मे, चेतन सदा चेतन मे, दोनो के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप चतुष्टयमय त्रिकाल द्रव्य हैं । इस प्रकार स्व-पर वस्तु की भिन्नता के निर्णय बिना ज्ञान की विपरीतता नही मिटती, अर्थात् सम्यग्ज्ञान नही होता और जन्म-मरण का अन्त नही आता । आत्मा मे सशय होगा तो सम्यग्ज्ञान नही होगा, और आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय होगा तो सम्यग्ज्ञान अवश्य होगा । सम्यग्ज्ञान नही करेगा तो मोक्ष कभी नही होगा, और सम्यग्ज्ञान करेगा तो मोक्ष होगा ही होगा, इसलिये "आपो लख लीजे" – ऐसा उपदेश दिया है ।

भगवान के कहे गये नव तत्वो को किस प्रकार पहिचाने उसका वर्णन द्वितीय और तृतीय ढाल मे विस्तार से आ गया है, उसके अभ्यास से आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहिचानना चाहिए। देखो ! भगवान के कहे हुए तत्व के अभ्यास का फल क्या ? कि "आपो लख लीजे" अन्तर्मुख होकर आत्मा का स्वरूप अनुभव मे लेना। तत्व के अभ्यास का फल तो आत्मा का अनुभव करना है। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, शरीरादि अजीव से भिन्न और रागादि आस्रवो से जुदा हूँ, मेरा चैतन्य तत्व अन्य सब तत्वो से भिन्न है, मैं ही आनन्द मूर्ति हूँ – इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त गुणो के चैतन्य पिण्ड को लक्ष्य मे लेकर "यह मैं हूँ" — ऐसा अनुभव होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। अहा ! ऐसे आत्मा के ज्ञान मे अलौकिक सुख है। इसलिए कहते है कि "आपो लख लीजे"। आत्मा के ज्ञान बिना जैन तत्व का सच्चा ज्ञान नही होता। भगवान ने आत्मा का स्वरूप पर से भिन्न और राग से पार उपयोगमय बताया है, उसकी सन्मुखता ही धर्म का मूल स्तभ है। भाई, तेरी महान चीज तेरे मे पडी है, उस पर दृष्टि कर, आत्म-सन्मुखता बिना बाह्य दृष्टि से जीव चाहे जितना शुभ भाव करे, उससे स्वर्ग मिलेगा किन्तु आत्मा का सुख कदापि नही मिलेगा।

जीवादि नव तत्वो को बराबर पहिचानना चाहिए, उसके लिए सत्सग और जिनवाणी का अभ्यास कर। जिनवाणी क्या कहती है ? वह यह कहती है कि हे जीव ! अपने आत्मा के सन्मुख हो जा भूतार्थरूप अपने शुद्ध स्वभाव का आश्रय कर, यही सच्चा तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। अजीव को अपने से भिन्न वस्तु जाने तो अजीव की श्रद्धा की – ऐसा कहा जाय। पुण्य-पाप आस्रव-बध को दु ख रूप जानकर उनका आश्रय छोडे तो पुण्य-पाप और आस्रव –बध तत्व की श्रद्धा हुई – ऐसा कहा जाय। इस प्रकार शुद्धात्मा की सन्मुखता से ही नवतत्व की सच्ची श्रद्धा होती है। तत्वार्थ श्रद्धान

का कार्य तो यह है कि भेद-ज्ञान से शुद्धात्मा का आश्रय करके पर और विकार का आश्रय छोडना। आनन्द रस का समुद्र आत्मा इतना महान है – ऐसा जाने, और फिर उसमे उपयोग न लगे – ऐसा कैसे बने ? अहा ! वीतराग कथित आत्मा अपनी ही वस्तु है, उसको न जाने तो इस अनन्त भव-समुद्र मे यह मनुष्य भव कहाँ जाकर डूबेगा ? अनन्तकाल से आत्मा एक भव मे से दूसरे भव मे जाता है, आत्मा को पहिचान कर मोक्ष पावे तभी भवभ्रमण मिटेगा। फिर मोक्ष मे सिद्ध भगवानपने अनन्त–अनन्त काल रहेगा। बापू ! ऐसा आर्य मनुष्यपना, श्रावक का उत्तम कुल और वीतरागी जिनवाणी का श्रवण तुझे महाभाग्य से मिला है, ऐसा सुयोग तो चिन्तामणि के मिलने जैसा है, उसे तू व्यर्थ मत गँवा।

१६ वर्ष की छोटी उम्र मे श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं –

बहु पुण्य-पुञ्ज प्रसग से शुभ देह मानव का मिला।
तो भी अरे भव चक्र का फेरा न एक कभी टला ॥
सुख प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुख जाता दूर है।
तू क्यो भयकर भावमरण प्रवाह मे चकचूर है ॥

बापू ! वर्तमान मे अनन्त काल के दुख से छूटकर सुख की प्राप्ति करने का यह अवसर है, अत तू सुख के कारण रूप सम्यग्ज्ञान को प्रकट करले। यहाँ "सुयोग" रूप मे आत्महित मे निमित्त रूप तीन बाते ली हैं। लाखो, करोडो रुपया मिले, बँगला मोटर मिले, सुन्दर शरीरादि मिले, उसको यहाँ सुयोग नही कहा, किन्तु आर्य मनुष्यपना, श्रावक का उत्तम कुल, और वीतराग-वाणी का श्रवण मिला, उसको सुयोग कहा है। जो आत्मा की पहिचान मे निमित्त रूप हो ऐसे योग को सुयोग कहा है। उसके लिए कही पैसा या शरीर का सुन्दरता आदि की आवश्यकता नही है। भले गरीब हो, कुरूप हो, परन्तु वीतराग-वाणी से, जैनधर्म के सस्कार से, आत्महित कर सकता है। देखो न, अमेरिका आदि देशो मे और यहाँ भारत

में भी अनेक जीवो के पास आज करोडो रुपया दिखाई पडता है, किन्तु सच्चे जैन धर्म का श्रवण, अर्थात् जिससे आत्मा का हित हो, वह मिलना अति दुर्लभ है। ऐसा अवसर तुझे मिला है तो करोडो अरबो रुपयो के योग की अपेक्षा यह सुयोग धन्य है – ऐसा समझ। ऐसा सुयोग पाकर अब तू ससार की झझट मे, लोगो को प्रसन्न करने मे, मत रुक, किन्तु शीघ्र ही आत्मा को पहिचान कर अपना हित कर ले। अमेरिका आदि मे बाह्य वैभव चाहे जितना हो परन्तु आत्मा के ज्ञान विना उसमे लेश मात्र भी सुख नही मिलता। अध्यात्मविद्या जो भारत का वास्तविक वैभव है, वही सुख का कारण है। अत उसका अभ्यास करके आत्मा को पहिचानो।

अहा! जो वाणी गणधरदेव आदर से सुनते है, जिसे सुनने के लिए स्वर्ग के इन्द्र भी इस मनुष्यलोक मे उतरते है, जिसे चक्रवर्ती भी अत्यन्त भक्ति से सुनते हैं, आत्मा का अदभुत स्वरूप बताने वाली ऐसी जिनवाणी तुझे वर्तमान मे यहाँ सुनने को मिली है। आत्मा का अचिन्त्य स्वरूप बताने वाली ऐसी वाणी सुनने को मिली तो उसका चिन्तवन करके, वस्तु स्वरूप समझकर, चैतन्य स्वरूप आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कर ले। ऐसा महान सुयोग मिला है उसे आत्मज्ञान से सफल कर। यदि तत्त्व-दृष्टि नही की और जीवन अज्ञान मे तथा विषयो मे गँवा दिया तो हाथ मे आया हुआ मनुष्यभव रूपी उत्तम रत्न खोकर तू पछताएगा। बापू! धन-कुटुम्ब-शरीर आदि की दरकार छोडकर जीवन मे आत्मा की दरकार कर। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान कैसे हो उसके प्रत्यन मे लग।

जिस प्रकार कोई हरा वृक्ष जलकर राख बन जाय और उस राख को किसी नदी मे फेक दे अथवा हवा मे चारो तरफ बिखेर कर उडा दे, बाद मे वे ही सब रजकण पुन. एकत्रित होकर वैसा ही वृक्ष बनावे – ऐसा अनन्तकाल मे भी होना जितना कठिन है, उसी प्रकार ससार मे कल्पवृक्ष जैसा यह मनुष्यपना पाकर यदि आत्मा

का भान नही किया और अज्ञान से विषयो मे ही उसे गँवा दिया तो भव समुद्र मे आत्मा ऐसा डूब जायेगा कि फिर से अनन्त काल मे ऐसा मनुष्यपना मिलना कठिन हो जायगा। त्रसपने का काल ही थोडा [दो हजार सागरोपम मात्र] है, जिसमे कीडी-मकोडी आदि असज्ञी पर्याये भी सम्मिलित हैं. उनमे मनुष्य अवतार तो अत्यल्प होते है। त्रस के उस मर्यादित काल मे मनुष्य होकर या तो आत्मा को साधकर मोक्ष पा जाय, अन्यथा त्रस पर्याय का काल पूर्ण होने पर निगोदादि एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय मे चला जायगा। फिर वहाँ से अनन्तकाल मे भी निकलना कठिन है। अत हे जीव! तू शीघ्र चेत …चेत' चेत।

अरे! मनुष्य होकर भी सच्ची जिनवाणी सुनने को मिलना कितना कठिन है। जिनवाणी के नाम पर भी आजकल तो अनेको जगह विपरीत उपदेश चल रहा है, पानी मे आग लगने जैसा हो गया है, क्या किया जाय। ऐसे समय मे भी तुझे ऐसी अमृत जैसी मीठी जिनवाणी मिली, वीतरागी आत्म स्वरूप को बताने वाली वाणी मिली, तो अब आलस्य छोडकर आत्मा की पहिचान करके इस उत्तम योग को सफल करले। महावीर प्रभु के शासन को पाने का सच्चा लाभ ले ले।

अज्ञान दशा मे जीव का अनन्त काल तो एकेन्द्रियपने मे गया, उसमे से निकलकर कीडी आदि त्रस पर्याय पाना कठिन, फिर सज्ञीपना और मनुष्यपना पाना कठिन, पश्चात् भारत जैसा आर्यदेश मिलना कठिन, उसमे भी श्रावक कुल और जैनधर्म मिलना कठिन, फिर आत्मस्वरूप समझाने वाली जिनवाणी का श्रवण, समयसारादि परम अध्यात्म शास्त्रो का श्रवण मिलना और भी कठिन है। ऐसा दुर्लभ योग आज तुझे भाग्य से मिला है और आत्म हित की बुद्धि भी जागृत हुई है तो अब ऐसे अवसर मे तू मत चूक, आत्मा को पहिचान कर सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करले, जिससे तेरे भव का अन्त आ जाय और तुझे परम सुख की प्राप्ति हो जाय।

भेद-विज्ञान की प्रेरणा

पिछले छन्द मे दुर्लभ मनुष्यपना और जिनवाणी का श्रवण पाकर आत्मज्ञान करने को कहा था। अब कहते है कि जीव को धन, वैभवादि सुख के लिए कुछ काम नही आते, एक सम्यग्ज्ञान ही सुख का कारण है, और वह अपना स्वरूप है। इसलिए करोडो उपायो से स्व-पर का भेद-ज्ञान करके अन्तर मे सम्यग्ज्ञान प्रकट करो।

धन समाज गज बाज राज तो काज न आवे।
ज्ञान आपको रूप भए फिर अचल रहावे॥
तास ज्ञान को कारन स्व-पर विवेक बखानो।
कोटि उपाय बनाय भव्य ! ताको उर आनौ ॥७॥

हे जीव ! तेरे हित के लिए धन, समाज, कुटुम्ब-परिवार, हाथी-घोडा अथवा राज्य आदि तो कुछ काम आने वाले नही, और वे स्थाई रहते भी नही है, तेरे हित का कारण तो सम्यग्ज्ञान है, वह ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है, अर्थात् वह ज्ञान उत्पन्न होने के बाद अचल रहता है। स्व-पर के विवेकरूप भेद-ज्ञान को ऐसे सम्यग्ज्ञान का कारण कहा है, शास्त्रो ने इस भेद-ज्ञान का बखान किया है, प्रशसा की है, इसलिए हे भव्य जीवो ! तुम करोडो उपायो से भी इस भेद-ज्ञान को अन्तर मे प्रकट करो, उसी से तुम्हारा हित अर्थात् मोक्ष होगा।

ज्ञान स्वरूप आत्मा क्या चीज है ? उसे पहिचानना चाहिए। शरीर अजीव है, पुण्य-पाप तो आस्रव है, उससे भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा को पहिचानो। आत्मा आनन्दकन्द है, उसे पहिचानने से ही मनुष्य अवतार की सफलता है, अत करोडो उपाय करके भी अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता आवे उसे सहन करके भी स्व-पर के भेद-ज्ञान से आत्मा को पहिचानो। समयसार मे तो ऐसा कहा कि तू मरकर भी चैतन्य को जानने का कौतूहली बन और शरीरादि से भिन्न

आत्मा को अनुभव मे ले। "मरकर भी" ऐसा कहकर उत्कृष्ट प्रयत्न की वात की है, अर्थात् मरण जैसी प्रतिकूलता आ पडे तो भी उसकी चिन्ता किए बिना चैतन्य को पहिचानने का उत्साह जागृत कर।

अरे ! जो स्वय अपनी ही आत्मा को न पहिचाना तो करोडो-अरबो रुपया हो, या अच्छा पुत्र-परिवार हो, उससे क्या लाभ ? समाज मे मान-सम्मान हो, लोगो मे प्रसिद्धि हो उससे आत्मा को क्या लाभ ? अरे, दूसरी चीज तो काम ही नही आती, किन्तु अपना शुभ भाव भी आत्मा के हित मे काम नही आता। हित का कारण तो एक ही है कि राग से पार आत्मा का सच्चा ज्ञान करना। वह ज्ञान कोई बाहर के उपाय से नही आता, वह तो आत्मा का ही स्वरूप है, और आत्मा के साथ सदा मोक्ष मे भी अविचलपने रहता है। राग और संयोग तो छूट जाता है, क्योकि वह आत्मा का स्वरूप नही है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, इसलिए वह कभी छूटता नही है।

स्व-पर के भेद-ज्ञान का अभ्यास करने पर सम्यग्ज्ञान होता है, इसलिए हे भाई ! करोडो उपाय करके भी ऐसे ज्ञान को अन्तर मे प्रकट करो। भले ही बाहर मे चारो ओर से हजारो प्रतिकूलताये हो, धन न हो, कुटुम्ब न हो, शरीर स्वस्थ न हो, समाज मे सन्मान न हो, तिरस्कार होता हो, तो भी सच्चे ज्ञान से आत्मा का हित हो सकता है। अत धन-समाज, सन्मान आदि सबका लक्ष्य छोड़कर, उन सबसे भिन्न अपने ज्ञान स्वरूप आत्मा को पहिचानने का सर्व प्रकार से उद्यम करो। करोडो उपाय करके भी आत्मा को जानो, अर्थात् करोडो प्रतिकूलताओ के मध्य भी साहस न छोडते हुए निरन्तर आत्मा को जानने के प्रयत्न मे ही लगे रहो। बाहर की कोई प्रतिकूलता आत्मा को जानने मे रुकावट नही डाल सकती, तथा बाहर मे धनादि की अनुकूलता आत्मा को जानने मे सहायता भी नही कर सकती। बाहर की प्रतिकूलता या अनुकूलता, इन दोनो से आत्मा भिन्न है। ऐसी भिन्नता के अभ्यास से स्व-पर का भेद-ज्ञान करने से सम्यग्ज्ञान

होता है। वह ज्ञान ही तुझे शरणरूप है, दूसरे भव मे तथा मोक्ष में भी वह तेरे साथ ही रहेगा, क्योंकि वह आत्मा के स्वभाव की चीज है।

धन, शरीर, राज्य, कुटुम्ब आदि आत्मा के स्वभाव की चीज नही हैं, राग भी जहाँ आत्मा के स्वरूप की चीज नही वहाँ अन्य की क्या बात करे? आत्मा का स्वरूप तो सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान कहते ही अनन्त गुण भी साथ मे समझना चाहिए। भाई, तेरा चेतन स्वभाव तुझे सुख का कारण है, जड लक्ष्मी के ढेर कही तुझे सुख के कारण नही है, उनके लक्ष से तू ममता करेगा तो वे तुझे पाप के निमित्त होगे। कदाचित् दानादि मे राग की मदता करेगा तो वह राग भी कही आत्मा को शरण देने वाला नही है। मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा राग से भिन्न हूँ, ऐसा जानकर आत्मा मे उपयोग जोडने पर जिस अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होगा उस आनन्द को देने की शक्ति जगत के किसी भी पदार्थ मे नही है। धन का ढेर आत्मा को हित का कारण नही होता, तथैव निर्धनता आत्मा के हित मे बाधक भी नही है।

अरे! यह शरीर ही आत्मा का नही, तो अन्य की बात क्या? ज्ञानी तो शरीर को एक वस्त्र समान अपने से भिन्न जानते है। शरीर रूपी वस्त्र फटे-जले-बदले उससे कही आत्मा फटता-जलता या बदलता नही है। चारो ओर से शरीर की पीडा के बीच भी जिसमे विश्राम लेने पर परमशान्ति का वेदन होता है – ऐसा मैं आत्मा हूँ। जब बाहर मे शरीर जलता हो तब भी अन्दर मे आत्मा आनन्द समुद्र मे परम शान्ति का वेदन करता है, क्योकि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है।

देखो न, इस शत्रुजय पर्वत पर पाण्डव कैसे ध्यान मे खडे हैं। बाहर मे शरीर सुलगता है, परन्तु वह तो अन्दर आत्मा की शान्ति मे ठहरे हैं, उसमे ऐसे तल्लीन है कि शरीर के दाहक के प्रति

क्रोध का विकल्प भी नही आता। अरे, साथ के दूसरे भाईयो को क्या हो रहा है यह देखने को भी वृत्ति नही उठती, आत्मा की परम शान्ति मे लीन होकर केवलज्ञान प्रकट करके मोक्ष पाते हैं। वाह! देखो आत्मा की शक्ति! एक ही काल मे शरीर जलता है और आत्मा स्थिर रहता है – इस प्रकार दोनो तत्वो की क्रिया अत्यन्त भिन्न-भिन्न है।

देह और आत्मा का भेद-ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान प्रकट करना चाहिए। ऐसा सम्यग्ज्ञान ही सच्चा विवेक है। देह और आत्मा एक है, अथवा शुभराग जीव को ज्ञान का साधन है – ऐसी बुद्धि तो महान अविवेक है, उसमे आत्मा का अहित है। भले बाहर मे अनेक भाँति का चहुँमुखी ज्ञान हो, परन्तु जिसे देह से भिन्न और राग से भिन्न आत्मा का भान नही, वह जीव परमार्थ मे अविवेकी है, उसके आत्मा का हित नही हो सकता। तथा किसी को भले बाहर का विशेष ज्ञान हो परन्तु अन्तर मे स्व-पर की भिन्नता के विवेक से जिसने आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया है, वह महान विवेकी है। सम्यग्ज्ञान ही सच्चा विवेक है और उसी मे आत्मा का हित है।

भले बडा राजपाट हो परन्तु यदि आत्मा की सभाल न करे, अभक्ष्य भक्षण करे, तो ऐसे पापी जीव नरक मे जाते हैं, – वहाँ राजपाट का वैभव उसका क्या करेगा? हजारो देव जिसकी सेवा करते थे ऐसे सुभौम चक्रवर्ती भी आत्मा को भूलकर विषय-कषाय मे तीव्र लीनता के कारण नरक मे गए, वहाँ उनको कोई सहायरूप नही हुआ, तो अन्य जीव की क्या बात? आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब तो अशरण है – ऐसा जानकर, उस राजपाट को छोडकर अन्तर में चैतन्य के शरण मे जाकर अनेक जीवो ने आत्महित साधा है। भरत महाराज जैसे चक्रवर्ती छहखण्ड के राज्य मे किंचित् भी सुख नही मानते थे, उससे भिन्न आत्मा के सुख को जानते थे, इसलिए राजपाट छोडकर आत्मा मे लीन होकर मुक्त हो गए। इस प्रकार

ज्ञानी को बाहर मे राजपाट हो, तो भी मैं इन सबसे भिन्न आत्मा हूँ और मेरे आत्मा मे मेरे अनन्त गुणो का साम्राज्य है – ऐसा भेद-ज्ञान उसको वर्तता है। ज्ञानी का ज्ञान राजपाट को आत्मा से भिन्न जानकर उससे विरक्त ही वर्तता है। राग और राज्य दोनो से भिन्न पडा हुआ ज्ञान आत्मा के स्वभाव मे एकत्वरूप हुआ है, वह अतीन्द्रिय शान्ति सहित है।

अहा! इस सम्यग्ज्ञान की महिमा अपूर्व है, वही सदाकाल जीव को शरणरूप है, अन्य कुछ भी जीव को आत्महित के लिए काम नही आता। मरणकाल मे हजारो नौकर-चाकर व स्त्री-पुत्रादि उपस्थित हो, स्वर्ग मे बडे देव के पास अन्य हजारो देव सेवा मे खडे हो, परन्तु वे किसकी सेवा करते है? शरीर की सेवा करते हैं, परन्तु अन्दर मे आत्मा तो अज्ञान के कारण मिथ्याभाव से दु खी ही हो रहा है, उसमे दूसरा कोई क्या करे? क्या नौकर-चाकर स्त्री–पुत्र, धन का पु ज अथवा देवगण–कोई भी इस आत्मा को अज्ञान के दु ख से छुडाने मे समर्थ हैं? नही, इसीलिए हे जीव! विचार तो कर कि जब यह वस्तुएँ आत्मा की शान्ति के लिए किसी काम की नहीं तो उनके अलावा अपनी वस्तु क्या है कि जो अपनी शान्ति के लिए चाहे जिस समय भी काम आवे। ऐसा तो सम्यग्ज्ञान ही है, वह स्वय शान्तिरूप है, अर्थात् जब देखो तब सदा शान्ति देता है, वह अपनी ही चीज है। हे भाई! ऐसे सम्यग्ज्ञान को लक्ष मे लेकर उसका तू उद्यम कर। थोडा सा उद्यम करके अटक मत जा, बल्कि उसे प्राप्त करके ही मान।

अहो, मेरा तो एक मात्र ज्ञान ही है, ज्ञान वह मैं हूँ ज्ञान के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नही है। ज्ञान उसे कहा जाय कि जिसमे राग का अश भी न हो। राग के किसी अश को ज्ञान अपने मे मिलाता नही, एक तरफ ज्ञान वह आत्मा, दूसरी तरफ राग और राग का फल, वह सब ज्ञान से भिन्न, आत्मा से भिन्न है – ऐसे दो भाग करके भेद-ज्ञान करना सम्यग्ज्ञान का उपाय है।

शुभाशुभ राग, पुण्य-पाप या उसका फल – इनमे से कोई भी आत्मरूप नही है, इसलिए ये आत्मा के हित मे कार्यकारी नही हैं। इनसे पार अपना ज्ञान स्वरूप आत्मा ही अपना निजरूप है, उसमे शुभाशुभ विकल्प नही है। ऐसा निजरूप ज्ञान ही आत्मा को सर्वत्र शान्ति दायक है। सम्यग्ज्ञान आत्मा की अपनी चीज है, वह भगवान आत्मा के स्वभाव मे से हुआ है इसलिए आत्मा के साथ अचल रहता है। उसके साथ सम्यक् श्रद्धा, शान्ति, सुख, वीतरागता आदि अनन्त स्वभाव हैं, परन्तु राग या पुण्य ज्ञान मे समाविष्ट नही है, वे तो ज्ञान मे भिन्न हैं, परभाव हैं, और दूसरे क्षण मे आत्मा से भिन्न पड जाते हैं। आत्मा के साथ वे अचल रहने वाले नही हैं, क्योंकि वे आत्मा का निजरूप नही हैं।

अरे, चैतन्य वस्तु अन्दर अनन्तगुण सहित है, वही मेरा निज रूप है, मेरे चैतन्य रूप मे शुभ विकल्प का एक अश भी नही समा सकता, पुण्य भी आत्मा के हित मे काम नही आता – इस प्रकार हे जीव ! तू शुभाशुभ राग से भी रहित ऐसे चैतन्यमय निज रूप को पहिचान। स्व-पर के विवेक मे चैतन्य तत्व राग से भी भिन्न जानने मे आया है। अहो ! ऐसा स्व-पर का भेद-ज्ञान प्रशसनीय है, सर्व सन्तो ने भेद-ज्ञान की प्रशसा की है। कैसा भेदज्ञान ? कि जिस उपयोग मे राग का एक अश भी न मिले, उपयोग राग से सर्वथा भिन्न होकर अन्तर्मुख होकर उपयोग मे ही तन्मयपने ठहर जाए। ऐसा भेद-ज्ञान अत्यन्त प्रशसनीय है। इसके विना मात्र शुभराग से आत्मा का हित बिलकुल नही होता। उसमे सन्तुष्ट होने से तो तू मनुष्य भव हार जाएगा। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है –

लक्ष्मी बढी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये।
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि ? कुछ नहीं मानिये॥
ससार का बढना अरे ! नर देह की यह हार है।
नहीं एक क्षण तुझको अरे ! इसका विवेक विचार है॥

भाई ! लक्ष्मी आदि की ममता के आगे यदि तू आत्मा का हित साधना भूल जायगा तो ऐसे मनुष्य अवतार को तू हार जायगा इस लक्ष्मी आदि की वृद्धि मे कही आत्मा का सुख नही है। अरे ! पुण्य की वृद्धि होना भी ससार ही है, इसमे भी आत्मा का सुख नही है। बापू ! इस अवसर मे तो ससार छेदकर आत्मा के सुख मिलने का उपाय कर, सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा को पहिचानने का शीघ्र उद्यम कर। आत्मा का भेद-ज्ञान रूपी जो सुपुत्र है वही आत्मा का कल्याण कर्त्ता है, बाहर का पुत्र कही आत्मा को शरणरूप नही होता। सयोग तो चलायमान है, वे चले जावेंगे, प्रात का सयोग सायकाल नही दिखता, प्रात काल मे जिसका राज्याभिषेक होता हुआ देखा हो, सायकाल मे उसी की चिता जलती दिखाई देती है। यह सयोग कही आत्मा की चीज नही है। ज्ञान ही आत्मा का निज स्वरूप होने से आत्मा के साथ अचल रहता है।

शुभ राग भी चलायमान है, वह कही अचल नही – स्थिर नही – शरण नही – आत्मा का निज रूप नही। राग से भिन्न आत्मा के ध्यान से परिणमित ज्ञान ही अचल है, वह आत्मा का निज रूप होने से इस लोक मे और परलोक मे भी ज्यो का त्यो टिका रहेगा। आत्मा ही स्वय अपने स्वभाव से वैसे ज्ञान रूप हुआ है, वह उससे कैसे छूटे ? वह ज्ञान सदा आत्मा के साथ अभेद रहता हुआ आत्मा को परम सुख देगा। अत हे जीव ! तू सम्यग्ज्ञान प्रकट कर। सर्वप्रकार के उद्यम से बारम्बार भेदज्ञान के अभ्यास से अन्तर्मुख होकर तू ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव कर।

अहो ! यह भेद-ज्ञान निरन्तर भाने योग्य है, क्योकि सिद्धि का कारण यह भेद-ज्ञान ही है। जो कोई जीव मोक्ष पाते हैं वे भेद-ज्ञान से ही पाते हैं। मेरा आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप से भिन्न जो कुछ भी शुभाशुभ राग अथवा धन– कुटुम्ब इत्यादि सयोग है, वह मैं नही हूँ – ऐसे भेद-ज्ञान से आत्मा का अनुभव करके सभी

जीव सिद्ध हुए हैं, और ऐसे भेद-ज्ञान बिना कोई जीव सिद्ध नही हो सकता। अतः भेद-ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है।

प बनारसीदास ने लिखा है –

भेद-ज्ञान सवर जिन पायो, ते चेतन शिव रूप गहायो।
भेद-ज्ञान जिनके घट नाहीं, ते जड़ जीव बँधे जगमाँही ।।

ऐसा भेद-ज्ञान आत्मा से अभिन्न है और मोक्ष का कारण है, इसलिए मुमुक्षुओ को भेद-ज्ञान की भावना सदा कर्तव्य है। आत्मा के ज्ञान बिना बाहर के जानपने को भेद-ज्ञान नही कहते, वह तो अज्ञान अथवा कुज्ञान है। अरे! जो अपने आत्मा को पर से भिन्न न करे उसे सच्चा ज्ञान कौन कहे? पर से भिन्न अपने आत्मा का ज्ञान, यही सच्चा भेद-ज्ञान है, निज स्वरूप मे एकता करके रागादि से भिन्न पडना ही सुज्ञान है। ऐसे भेद-ज्ञानवत सुज्ञानी जीव ही मुक्ति-पुरी के पथिक हैं। जिनको ऐसा भेद-ज्ञान नही, देह मे और राग मे एकत्व बुद्धि से जिनका ज्ञान अज्ञानरूप परिणमित हो रहा है, ऐसे जीव शुभ–अशुभ कर्म को बाँधकर ससार मे ही भटकते हैं। इसलिए कहते हैं कि हे भाई! हे आत्महित के अभिलाषी! करोडो उपायो से भी तू ऐसा भेद-ज्ञान कर। अपने हित का यह उत्तम कार्य सर्वप्रथम करने योग्य है।

आत्मा मे उतरकर जिसने सच्चा भेद-ज्ञान प्रकट किया अर्थात् जिसने स्वानुभव से आत्मा का निर्णय किया, सयोगो के फिरने पर भी उसके निर्णय मे फेरफार नही होता। सच्चा निर्णय ऐसा नही होता कि आत्मा धर्म-स्थान मे अथवा ज्ञानी के पास हो तब तो बना रहे और वहाँ से हटने पर छूट जाय। सच्चा निर्णय तो ऐसा होता है कि आत्मा जहाँ भी जाय वहाँ साथ ही रहे, किसी भी सयोग मे नही छूटे, क्योकि वह निर्णय सयोग के आधार से नही हुआ है किन्तु आत्मा के स्वभाव मे से आया है। ज्ञानी को जो भेद-ज्ञान हुआ है वह सदा सर्व प्रसगो मे रहेगा, उसने आत्मा को आत्मा

जाना है, वह कभी नही छूटेगा, और पर को पररूप जाना है उसमे कभी आत्मभाव नही होगा। कहा भी है कि –

निजरूप को छोडे नहीं, परभाव को भी नहिं ग्रहे।
मैं जानता अरु देखता सब, ज्ञानी यह चिन्तन करे॥

आहा! जिसे ऐसा भेद-ज्ञान हुआ वह तो आत्मा रूप हो गया अब वह कैसे छूटे? वह तो आत्मा का निज स्वरूप है। हे भाई तू पुण्य–पाप रहित अपने चैतन्य स्वरूप का लक्ष कर। तुझे तेरा अचल स्वरूप कोई परम अद्‌भुत दिखाई पडेगा, और तेरे आत्मा मे से तुझे मुक्ति सुख का स्वाद आवेगा – ऐसे भेद-ज्ञान वाला जीव प्रशसनीय है। धन बहुत हो अथवा शास्त्र ज्ञान विशेष हो गया हो, इससे कही जीव प्रशसनीय नही है, किन्तु जिसे अतीन्द्रिय ज्ञान से चैतन्य तत्व की अनुभुति हुई हो वह जीव तीन लोक मे प्रशसनीय है। उसकी प्रशसा सभी करते हैं, श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव भी उसकी प्रशसा करते हुए कहते हैं –

वह धन्य है कृतकृत्य है, शूरवीर अरु पडित है।
सम्यक्त्व सिद्धिकर अहो स्वप्न मे भी निर्दोष है॥

आत्मा के अनुभवरूप भेद–ज्ञान का साधन भी आत्मा से भिन्न नही है, आत्मा से अभिन्न ऐसा ज्ञान ही चैतन्य स्वभाव मे घुसकर आत्मा को परभावो से रहित ग्रहण कर लेता है, और परमसुख का अनुभव करता है। आत्मा चैतन्य वस्तु है, असख्य प्रदेशो का पिण्ड है, ज्ञानसुख आदि अनन्त स्वभाव उसमे भरे हैं। जैसे चन्दन मे सर्वत्र गन्ध है, वैसे ही चैतन्य मे सर्वत्र ज्ञान और आनन्द है, मुझमे देह नही, राग नही, मैं अपने अनन्त भावो से भरी एक चैतन्य वस्तु हूँ – इस प्रकार स्वसन्मुख होकर जो सम्यग्ज्ञान हुआ वह अन्दर के चैतन्य समुद्र मे से उछला है, चैतन्य के अनन्त गुणो के रस को साथ लेकर प्रकट हुआ है।

भेद-ज्ञान आनन्द सहित प्रकट होता है। जैसे शक्कर की मिठास ख्याल मे आती है, वैसे ही चैतन्य के आनन्द की अलौकिक अतीन्द्रिय मिठास का स्वाद भेद-ज्ञानी को आता है। शुभ विकल्प मे आकुलता है, उसके स्वाद से भिन्न परम निराकुल शान्तरस आत्मा मे है, उसके लिए समस्त ससार के वाह्य भावो का रस छूटकर अन्दर आत्मा का रस आना चाहिए, अत्यन्त प्रेम से उसमे परिणाम लगाना चाहिए। आत्मा अरूपी होने पर भी सत् वस्तु है, उसका साक्षात् स्वाद धर्मी को स्वानुभव मे आता है। अरूपी होने के कारण अनुभव मे न आता हो - ऐसा नही है, आत्मा ज्ञान से अनुभव मे आने योग्य है, परन्तु उसके लिए अन्दर मे विशेष अभ्यास करना चाहिए।

"करोड़ो उपायो से भी सम्यग्ज्ञान कर" - ऐसा कहा, परन्तु "करोडो उपायो से भी तू शुभ राग कर"-ऐसा नही कहा, क्योकि सुख का कारण राग है ही नही, सम्यग्ज्ञान ही सुख का कारण है। अत विकल्प से भिन्न करके आत्मा का अभ्यास करना योग्य है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जो व्रतादि के विकल्प आवे उनसे भी ज्ञान की भिन्नता का अभ्यास करना। भाई! अपने हित के लिए तू दुनिया की दरकार छोड और सर्व उपाय से आत्म ज्ञान का उद्यम कर। भले करोडो बाधाये वाहर मे आवे, निन्दा हो, रोग हो, निर्धनता हो, तथापि तू अन्तर मे आत्मा के अनुभव का उद्यम कर। मरकर के भी अर्थात् यह मरण जैसी प्रतिकूलता आ पडे तो भी तू आत्मा मे उतरकर सम्यग्दर्शन कर।

यह अन्तर की अपूर्व वीतरागी क्रिया है। धर्म मे यह मूल चीज है, इसके बिना शुभ का कोई मूल्य नही। जगत को शरीर और राग की क्रिया दिखाई पडती है, किन्तु धर्मी के अन्तर मे होने वाली चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान की वीतरागी क्रिया दिखाई नही पडती, उसे पहिचान ले तो निहाल हो जाय। यहाँ करोडो उपाय से ज्ञान करने को कहा है, सो कही भिन्न-भिन्न करोडो उपाय नही है, उपाय तो

एक ही है, परन्तु करोडो प्रकार की प्रतिकूलताओ के बीच मे भी अपने आत्मा को पहिचान कर उसका अनुभव करना, भेद-ज्ञान करना – यही एक मात्र कर्त्तव्य है।

जिसके अन्तर मे सच्ची ज्ञान कला जगी उस जीव को ससार के प्रति सहज वैराग्य हो जाता है, विषय कषायो मे उसे स्वप्न मे भी सुख या मिठास नही लगती। वह भले गृहस्थाश्रम मे हो, पुण्य-पाप के भाव होते हो, तथापि ज्ञान बल से आत्मा को पुण्य पाप से भिन्न ज्ञान रूप अनुभव करता है। पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है उसकी ज्ञान परिणति पर से और राग से अत्यन्त निर्लेप रहती है। भगवान आत्मा के आनन्द अमृत के पास विषयकषाय उसे विष समान लगते हैं। भरतचक्रवर्ती, रामचन्द्रजी आदि सम्यग्दृष्टि थे, उनके अतरग मे ऐसी ही दशा थी। इन्द्र जैसे जिनके मित्र, छियानवे हजार जिनकी रानियाँ, छह खण्ड का जिसके पास राज्य, तीर्थंकर जिनके पिता, और नवनिधान जिनके घर मे, तथापि वे भरत चक्रवर्ती जानते थे कि हमारा कुछ भी नही है, ये सब हमसे भिन्न है, उनमे हम कदापि नही हैं। भेद-विज्ञान की कला से वे अन्दर मे चैतन्य के आनन्द का स्वाद लेते थे। ऐसा ज्ञान, वह आत्मा का स्वरूप है, एक बार प्रकट करने के बाद वह भेद-ज्ञान की धारा आगे बढकर अक्षय केवलज्ञान प्राप्त करती है।

इसलिए कहते हैं कि जगत मे जिस किसी जीव को आत्मा का सुख चाहिए वह जीव अन्तर मे करोडो उपाय करके स्व-पर भेद-ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान प्रकट करे। करोडो उपाय से अर्थात् अन्दर के महान अपूर्व उद्यम से सम्यग्ज्ञान प्रकट करना चाहिए।

तीनो काल मे ऐसा सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है, उसी से विषयो की इच्छा रूप भयकर दावानल बुझती है और अतीन्द्रिय शान्ति प्राप्त होती है – यह बात अगले छन्द मे कहेगे।

मोक्ष का एकमात्र उपाय भेद-ज्ञान

सम्यग्ज्ञान ही जीव को परम सुख का कारण है, यही जन्म मरण का रोग मिटाने वाला अमृत है, उसके बिना ससार मे सुख का कोई कारण नही है। इसलिए करोडो उपायो से भी ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट करो – इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्रकट करने की प्रेरणा करके अब सम्यग्ज्ञान की विशेष महिमा समझाते हुए कहते है :-

जे पूरव शिव गए जाहिं अरु आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनो मुनिनाथ कहै है॥
विषयचाह दव दाह जगतजन अरनि दझावै।
तास उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावै॥८॥

जो अनन्त जीव पहले मोक्ष गए है, अब जा रहे है और भविष्य मे जावेगे, वह सब सम्यग्ज्ञान की ही महिमा है - ऐसा मुनिनाथ कहते है। जिस प्रकार आग अरनि के जगल को जला देती है, उसी प्रकार विषयो की चाहना रूपी भयकर दावानल ससारी जीवो को जला रही है, उसको यह ज्ञानरूपी मेघ धारा ही बुझाकर शान्त करती है, ज्ञान के अलावा उसका उपाय अन्य कोई नही है।

आत्मा के सच्चे ज्ञान से चैतन्य सुख का अनुभव जहाँ तक न हो वहाँ तक शुभ या अशुभ पर-विषयो मे सुख बुद्धि रहती है, अर्थात् विषयो की चाहना की ज्वाला मे जीव जला ही करता है, दु.खी होता ही रहता है। जिसने स्व-पर की भिन्नता जानकर चैतन्य समुद्र की अगाध शान्ति अपने मे देखी, उसने विषयो से भिन्न सुख अपने मे देखा, उसी समय उसे अपूर्व चैतन्यरस की धारा से विषयो की चाह छूट जाती है। सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा के अतिरिक्त अन्य सभी मे से सुखबुद्धि हट जाती है। कविवर बनारसीदासजी ने नाटक समयसार मे लिखा है –

ज्ञानकला जिनके घट जागी, ते जग माँहि सहज वैरागी ।
ज्ञानी मगन विषयसुख माँही, यह विपरीत सभवै नाहीं ।।

तीनोकाल भेद-ज्ञान से चैतन्य सुख का अनुभव कर-करके ही जीव मोक्ष मे जाते हैं। पर से भिन्न चैतन्य तत्व की लगन लगाकर जिसने सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रकट की उसी जीव ने मोक्ष सुख पाया वे ही पाते हैं और पावेंगे । विदेह क्षेत्र मे या भरत मे, चौथेकाल मे या पचमकाल मे, जिस किसी जीव ने मोक्ष पाया, जो पाता है और पावेगा वह ज्ञान के सेवन से ही समझना । समयसार की टीका मे मुनिनाथ श्री अमृतचन्द्र स्वामी कहते है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।

सम्यग्दर्शन कहो, भेद-ज्ञान कहो, ज्ञान की आराधना कहो, वही मोक्ष का उपाय है । मुनियो के नाथ ऐसा कहते हैं कि ज्ञान की आराधना से ही मोक्ष प्राप्त होता है । आत्मा अपने ज्ञान की अनुभूति रूप से परिणमे, वही मोक्ष का हेतु है । इसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो समा जाते है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनो ज्ञानमय हैं, राग रहित है, उनमे राग का कोई अश नही समाता राग से खिसककर चैतन्यभाव मे वसना ही मोक्ष का पथ है ।

सम्पूर्ण मोक्षमार्ग ज्ञानमय है । ज्ञान की श्रद्धा, ज्ञान का ज्ञान, और ज्ञान का ही आचरण, इस प्रकार ज्ञान की अनुभूति मे मोक्षमार्ग समाविष्ट है । ज्ञान के अनुभव से भिन्न कोई मोक्ष का कारण नही है ।

अहो ! ज्ञान की महिमा तो देखो । ज्ञान अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा उसको पहिचानने पर सम्यग्ज्ञान हुआ और मोक्षमार्ग खुला, मुनियो ने उसको मोक्षमार्ग मे स्वीकार किया । मुनियो के नाथ ऐसे अरहत भगवन्तो ने, तथा गणधरादि महान मुनियो ने भेद-ज्ञान को ही

मोक्ष का कारण जानकर उसकी प्रशसा की है। ऐसे मोक्षमार्ग को पहिचान कर जो भेद-ज्ञान प्रकट करे उसी ने अरहन्तो की और मुनियो की आज्ञा स्वीकार की है। जो इसके विरुद्ध अन्य रीति से मोक्षमार्ग माने, शरीर की क्रिया को अथवा शुभराग को मोक्ष का कारण माने, उसने वीतराग अरहन्तो की आज्ञा नही मानी।

वापू ! मोक्षमार्ग मे हम शुभ राग की प्रशसा नही करते, हम तो वीतरागी ज्ञान की ही प्रशसा करते है। चौथे गुणस्थान मे जो सम्यग्ज्ञान है वह भी राग से भिन्न होने के कारण वीतरागी ही है, ऐसे सम्यग्ज्ञान की महिमा तो जाने नही, और बाहर मे शुभ राग की महिमा करके उसमे एकाकार रहे तो उस जीव ने भगवान अरहन्त के मार्ग को नही जाना, मुनियो को नही पहिचाना और वह मुक्ति मार्ग से भी परिचित नही हुआ, भाई ! मुक्ति का मार्ग तो अन्दर चैतन्य के स्वभाव मे से आता है, राग मे से नही आता।

आत्मा के सच्चे ज्ञान विना राग की मिठास नही छूटती और विषयो की चाह रूपी आग नही बुझती जहाँ चैतन्य की शान्ति रूप मेघ जल नही, वहाँ विषयो मे जलते हुए जीवो की आग कहाँ से बुझेगी ? वापू आत्मा को भूलकर तू ससार मे राग की भट्टी मे जल रहा है। आगे कहेगे - यह राग आग दहै सदा, ताते समामृत सेइए।

शुभ या अशुभ राग तो आग है, उसमे तू सदा जल रहा है, इसलिए ज्ञानरूपी अमृत का सिंचन करके उस आग को शान्त कर, अन्य किसी उपाय से वह आग नही बुझ सकती। ज्ञान से अन्तर मे उतरकर चैतन्य की शान्ति के समुद्र मे डुबकी मारे तो वाह्य विषयो की चाह मिट जायेगी और तुझे परम शान्ति का वेदन होगा चैतन्य स्वरूपी आत्मा महा शान्ति का सागर है, उसके शान्त रस के सिंचन से विषयो की आग बुझ जायेगी और चैतन्य की परम शान्ति अनुभव मे आयेगी।

यहाँ आत्मा के सम्यग्ज्ञान की महिमा बतलाकर उसकी आराधना करने को कहा है। कौन कहते है ? मुनियो के नाथ कहते हैं, अर्थात् जिनेन्द्रदेव और गणधरदेव इस सम्यग्ज्ञान की महिमा कहते हैं। हे भव्य जीवो ! भेद-ज्ञान से ही कल्याण सधता है, इसलिए तुम करोडो उपायो से भी आत्मा को जानकर सम्यग्ज्ञान प्रकट करो।

छह मास आठ समय मे ६०८ जीव अनादि काल से मोक्ष जा रहे है और सदा ही जाते रहेंगे। उन सबने क्या करके मोक्ष पाया ? कि आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष पाया, और भविष्य मे भी इसी प्रकार मोक्ष पावेगे। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है –

"एक होय त्रणकाल मे परमारथ का पंथ"

सम्यग्ज्ञान की कोई अपार महिमा है, क्योकि वह जीव को मोक्ष प्राप्त करवाता है। राग मे ऐसी शक्ति नही कि जीव को मोक्ष प्राप्त करावे। अनन्त बार मुनिव्रत पालने का शुभ राग किया, किन्तु उससे मुक्ति तो नही मिली। मुक्ति का उपाय शुभ-अशुभ दोनो से रहित, आत्मा के अनुभवरूप ज्ञान ही है। इस ज्ञान की महिमा अचिन्त्य है। चैतन्य स्वभाव का अपार सामर्थ्य है, विभाव उससे विपरीत है, और पर-द्रव्य उससे पृथक है – इस प्रकार विवेक करके स्व-पर को भिन्न जानना, इसी प्रकार विभावो से चैतन्य स्वभाव की भिन्नता जानना, और चैतन्य स्वभाव के महान सामर्थ्य को जानकर उसके सन्मुख होना। इस उपाय के द्वारा सम्यग्ज्ञान करने से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। मुनिनाथ कहते है कि अरे भैया ! अनन्त सिद्ध भगवन्तो ने जिस पथ से सिद्धि प्राप्त की, उन्ही भगवन्तो के पथ मे तुझे आना हो तो तू भेद-ज्ञान का अभ्यास कर, क्योकि सभी भगवन्तो ने ऐसे भेद-ज्ञान से ही मुक्ति पाई है। सीमन्धरादि भगवन्त भी ऐसे ही भेद-ज्ञान से वर्तमान मे मुक्त हो रहे हैं, और वैसे ही मार्ग का उपदेश दे रहे है।

सभी तीर्थंकर भगवन्तो ने एक ही प्रकार से मोक्षमार्ग की उपासना की है और एक ही प्रकार का उपदेश दिया है, क्योंकि मोक्ष के लिए दूसरे मार्ग का अभाव है।

अरे! आत्मा की महिमा जिसके ज्ञान मे न आवे, और राग की महिमा आवे, वह जीव वीतरागी मोक्ष मार्ग को कैसे साध सकता है? आत्मा के असीम चैतन्य स्वभाव के सामने रागादि विभावो की कोई महिमा नही, वे तो चैतन्य स्वभाव मे विपरीत है, चैतन्य भाव मे राग भाव की तो नास्ति है। स्वभाव का निर्णय किये विना सम्यक् ज्ञान नही हो सकता, सम्यग्ज्ञान विना मोक्षमार्ग नही होता, और विषय-कषायरूप अग्नि नही बुझती। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण है। सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का कारण कहने पर उसके साथ सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी आ जाता है – ऐसा समझना चाहिए।

स्वयभूरमण समुद्र मे असख्य पशु भी ऐसे आत्मा का अनुभव करके मोक्षमार्गी होकर आज भी विचरण कर रहे है। हम पुण्य-पाप से पार चैतन्य स्वभावी हैं, यह शरीर हमारा नही, मात्र शान्त चैतन्य रस ही हम है – इस प्रकार स्वभाव रस का वेदन उन पशुओ को वर्तता है। हे भव्य! ऐसा मनुष्य अवतार पाकर तू भी मोक्ष के लिए आत्मा का सम्यग्ज्ञान कर। यह तेरे से हो सकता है। पशु पर्याय मे जीवो ने जो कार्य किया वह मनुष्य पर्याय मे तुझसे क्यो नही हो सकता? क्या आत्मा पशु या मनुष्य है? आत्मा तो सभी चैतन्य स्वरूपी भगवान जैसे है। जो कार्य भगवान ने किया वह क्या तुझसे नही हो सकता? क्यो नही हो सकता, अवश्य हो सकता है, अत उत्साह पूर्वक वह कार्य कर।

मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, रागादि विकारी भाव चैतन्य से भिन्न है, शरीरादि जड अत्यन्त भिन्न हैं – ऐसा जिसको भान नही, और मै मनुष्य हूँ – इत्यादि प्रकार से जो अपने को शरीररूप – जडरूप मानता है, ऐसे जड बुद्धि वाले को मोक्षमार्ग का ज्ञान कहाँ से होगा?

वह तो कर्म से बँधता है। जिस समय राग होता है उस समय उससे भिन्न चैतन्यवस्तु को ही ज्ञानी निजरूप से अनुभव करता है, इसलिए उसी को राग के अभावरूप सवर है और उसी को मोक्षमार्ग है।

अरे भाई! पुण्य और पाप दोनो चैतन्य से भिन्न है, अत पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-विषाद मत करो – ऐसा अगले छन्द मे कहेंगे। पुण्य के फल मे हर्ष करके प्रफुल्लित मत हो जाओ, और पाप के फल मे विषाद करके मुरझा मत जाओ। चैतन्य को तो पुण्य-पाप दोनो से भिन्न जानकर समभावरूप रहो। मुनिवर कहते हैं कि पुण्य-पाप मुक्ति का उपाय नही है, पुण्य-पाप से भिन्न ऐसा सम्यग्ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है, उसे करोडो उपाय करके अन्तर मे प्रकट करो।

सम्यग्ज्ञान समान महिमावन्त वस्तु जगत मे अन्य है ही नही। "ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण"। जीव को ज्ञान जैसा सुखदायक जगत मे अन्य कोई नही है। अरे! तेरा ज्ञान परमसुख की प्राप्ति कराने वाला और दु ख-दावानल को बुझाने वाला है, उसकी परम महिमा लाकर, तू आत्मा मे एकाग्रता करके वह ज्ञान प्रकट कर, ज्ञान को राग मे एकाग्र मत कर। अन्तर मे ज्ञान और राग की भिन्नता का भावभासन करके ज्ञान का स्वाद ले। भिन्नता का भावभासन हुए बिना अर्थात् ज्ञान का स्वाद आए बिना अकेला शास्त्र-पठन आदि बाह्य प्रयत्न किस काम का? मैं चैतन्यतत्व हूँ, और राग से मेरा तत्व भिन्न जाति का है – ऐसा अन्तर मे वेदन करे तब शास्त्र के भावो का सच्चा भासन होता है, और सम्यग्ज्ञान होता है।

ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा मे चैतन्य के शान्त रस की ऐसी मेघवर्षा होगी कि अनादि के विषय-कषाय की भयकर आग क्षणमात्र मे बुझ जाएगी। ज्ञान होते ही कषायो से आत्मा भिन्न पड गया और चैतन्य के परम शान्त रस मे मग्न हो गया। पश्चात् जो

अल्प राग रह गया वह तो ज्ञान से भिन्नपने ही रहा है – एकपने नही रहा। कपाय के किसी अश को धर्मी जीव अपने ज्ञान मे नही मिलाता। ऐसा अपूर्वज्ञान परम महिमावन्त है – ऐसा मुनिनाथ भगवान ने कहा है।

जैसे शीतल वर्फ और उष्ण अग्नि, इन दोनो का स्पर्श भिन्न-भिन्न जाति का है, वैसे ही शान्त रसरूप ज्ञान और आकुलतारूप राग, इन दोनो का स्वाद अत्यन्त भिन्न जाति का है, और उस ज्ञान के द्वारा पहिचाना जाता है। राग से भिन्न जो शुभाशुभ इन्द्रिय विषय [स्त्री आदि अशुभ और समवशरणादि शुभ] है, उनमे मेरे सुख का अ श भी नही है, उनमे परम सुख मानना मिथ्यत्व है। जहाँ सुख भरा है ऐसे स्व-विषय को भूलकर, परविषय मे सुखवुद्धि के कारण मिथ्यादृष्टि जीव विपय-कषाय की भयकर आग मे निरन्तर जल रहा है, दु खी हो रहा है। हे जीव! अपने को दु.ख से वचाने के लिए तू शीघ्र ही विषयो से भिन्न अपने चैतन्यामृत के समुद्र को देख। तेरा सगा भाई या वहिन अग्नि मे जलती हो तो उसे वचाने के लिए सभी काम एक तरफ छोडकर कितनी शीघ्रता करता है? तो यहाँ सगे से सगा ऐसा अपना आत्मा भयकर भवदु ख की अग्नि मे जल रहा है। हे जीव! उसे वचाने के लिए तू अत्यन्त शीघ्रता कर और सम्यग्ज्ञान कर।

सम्यग्ज्ञान होने पर शान्तरस के वेदन से तेरा ज्ञान विपयो से विरक्त हो जावेगा। बाहर के विषयो मे, शरीर इन्द्रियादि मे, कही स्वप्न मे भी मेरे आनन्द की गन्ध भी नही है, और मेरे आत्मा मे कोई अचिन्त्य विषयातीत सुख है, आनन्द का अगाध सागर मेरे मे भरा है – इस प्रकार सम्यग्ज्ञान से स्व-पर का भेद जानने पर आत्मा सब विषयो से विरक्त हो जाता है, और मात्र आत्मा मे ही सुखबुद्धि होने से उसमे ज्ञान एकाग्र हो जाता है। फिर भला उस ज्ञान मे अशान्ति कैसे रहे? इस प्रकार सम्यग्ज्ञान ही ससार के भयकर

दावानल से बचाने का एकमात्र उपाय है। इसलिए ऐसे सम्यग्ज्ञान की मुनिवरो ने भी बहुत प्रशसा की है। इसलिए सुख के अर्थ तू अवश्य उसका सेवन कर।

जो जीव शरीर के स्पर्श मे, मिष्ट रस मे, सुगन्ध मे, रूप में, शव्दादि किन्ही भी वाह्य विपयो मे, राग मे, पुण्य मे अथवा पुण्य के फल मे किंचित् मात्र भी सुख मानता है, वह जीव अपने को विषयाग्नि मे जलाता है। अरे! दुख की आग मे कूद कर भी यह अज्ञानी अपने को सुखी मानता है। इच्छा और विषय रहित मेरी चैतन्यवस्तु स्वय ही सुखस्वरूप है – ऐसा भान करके सम्यग्ज्ञानरूपी मेघ धारा से धर्मी जीव विषय-चाह की भयकर अग्नि को वुझा देता है। आत्मा के सम्यग्ज्ञान बिना, जीव द्रव्यलिंगी साधु होकर भी राग की रुचि के कारण विषयेच्छा की अग्नि मे ही जलता रहता है, उसे वाहर मे भले ही विषयों की सामग्री का सयोग न हो, तथापि वह जीव विषयो से छूटा है – ऐसा ज्ञानी तो नही कहते, क्योकि उसे विषय सामग्री के कारणरूप शुभराग के वेदन मे तो मिठास पडी है, उस शुभराग के फल मे तो वाह्य विषय सामग्री ही मिलेगी, उसके फल मे चैतन्यसुख कदापि नही मिलेगा।

इस प्रकार अज्ञानी के हृदय मे विषय–दाह सुलगती है, जवकि ज्ञानी चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रती हो तो भी सम्यग्ज्ञान की धारा से उसने विपय-चाहरूपी दावानल को बुझा दिया है। राग मे या उसके फल मे उसे किंचित् भी मिठास नही है, इसलिए वाह्य में राजपाट की सामग्री के बीच मे वैठे होने पर भी अन्तर मे उस जीव का ज्ञान वास्तव मे विषयो से विरक्त ही है।

अहा! देखो तो सही सम्यग्ज्ञान की महिमा! सम्यग्ज्ञान होने पर चैतन्य मे शीतल शान्ति के फुव्वारे उछलते है और उनके द्वारा विपय कषाय की अग्नि वुझ जाती है। सम्यग्ज्ञान बिना अन्य

किसी उपाय से जीव के विपय-कषाय मिटते नही है। इसलिए हे जीव! तू शीघ्र ही सम्यग्ज्ञान का सेवन कर – ऐसा सन्तो का उपदेश है।

अरे भगवान! तुझे ससार के अन्य कामो का तो अवसर मिलता है किन्तु आत्मा के हित के लिए अवसर नही मिलता। इससे समझना चाहिए कि तुझे आत्मा का हित प्रिय नही है। तुझे जितना पर का रस है उतना आत्मा का नही है। यदि वास्तव मे तुझे आत्मा का रस हो तो अन्य हजारो का काम छोडकर भी आत्मा के ज्ञान के लिए उद्यम करे। दूसरे काम का रस छोडकर आत्मा की पहिचान के लिए करोडो उद्यम करके भी तू सम्यग्ज्ञान कर। भाई, इस समय तुझे उत्तम योग मिला है, ऐसा सुयोग फिर मिलना कठिन है। अत तू इस अवसर मे "आपो लख लीजे" अर्थात् आत्मा को अवश्य ही पहिचान ले, उसमे आलस्य मत कर। क्योकि "यह नर-भव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहि होवे" ऐसा तीसरी ढाल में कह चुके हैं।

आत्मा के अज्ञान से चतुर्गति मे भ्रमण करते हुए जीव ने सबसे अधिक भव तो तिर्यचगति मे बताये है, तदुपरान्त स्वर्ग-नरक और मनुष्य के भी अनन्त अवतार किये है। उनमे मनुष्य की अपेक्षा नरक के अवतार असख्यगुने तथा नरक की अपेक्षा स्वर्ग के अवतार असख्यगुने किये है। असख्य अवतार स्वर्ग और नरक के करे तब मनुष्य का एक अवतार मिले – ऐसी मनुष्य अवतार की दुर्लभता है। ऐसे दुर्लभ मनुष्य अवतार मे भी जैन धर्म का वीतरागी उपदेश सुनने को मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा मनुष्य अवतार और वीतरागी जैन धर्म का उपदेश तुझे आज महाभाग्य से मिला है, तो अब तू शीघ्र जाग, चेतकर सावधान हो, और आत्मा की पहचान करके सम्यग्ज्ञान प्रकट करके अपने भव-दु ख का अन्त कर।

ज्ञानी की चेतना परिणति रोगादि से और विषयो से सहज विरक्त है। चैतन्यसुख मे जो परिणति मग्न हुई वह अब राग मे

अथवा बाह्य विषयो मे मग्न कैसे होगी ? अज्ञानी को शुभराग के समय राग से भिन्न चैतन्यसुख की तो खबर नही है, अर्थात् राग मे ही उसका ज्ञान लीन वर्तता है। ज्ञानी को कदाचित् अशुभ राग हो फिर भी ज्ञान में उस राग की पकड नही है, उस समय उसका ज्ञान राग से अत्यन्त भिन्न ही वर्तता है। राग को तो वह उपसर्ग जैसा मानता है, उसमे किंचित् भी सुख नही मानता – इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति मे महान अन्तर है। इच्छा और सयोग तो दोनो के दिखाई पडते है किन्तु पकड–पकड मे अन्तर है।

जैसे बिल्ली जिस मुँह मे चूहे को पकडती है उसी मुँह म अपने बच्चे को भी पकडती है, परन्तु चूहे को तो मारने के लिए पकडती है और बच्चे को जिलाने के लिए पकडती है – इस प्रकार पकड–पकड मे फेर है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी के सयोग–सयोग मे फेर है। सयोग ज्ञानी-अज्ञानी दोनो को होता है, परन्तु ज्ञानी को तो वह परपने होता है स्वपने नही, और अज्ञानी को उसमे स्वपना है, अपनापन है। राग भी ज्ञानी और अज्ञानी दोनो को होता है, वहाँ ज्ञानी उस राग को दुखदायक मानकर उसका नाश करना चाहता है, जबकि अज्ञानी उस राग को सुखदायक मानकर उसकी रक्षा करना चाहता है। इस तरह दोनो की दृष्टि मे महान अन्तर है।

प्रश्न – राग मे दु ख लगता है तो ज्ञानी उससे दूर क्यो नही हो जाता ?

उत्तर – अरे भाई! उसकी चेतना दु ख से दूर ही है अर्थात् छूटी हुई है, वह कही राग मे लीन नही है। सयोग और राग दोनो से पार चैतन्य को ही वह चेतना वेदती है,उसमे ही तन्मय वर्तती है। रागादि परभावो को तो वह उपसर्ग जैसा समझकर उससे दूर (छूटी ही) रहती है। ज्ञान चेतना तो राग से भिन्न ही है। ऐसे ज्ञान की अपार महिमा है, उसके भान बिना दूसरे मे आनन्द मानकर जीव भटकता है। इसलिए कहते हैं कि हे भाई! दूसरी बात छोड

ग्रौर करोडो उपाय करके भी तू सम्यग्ज्ञान प्रकट कर। स्व-पर की भिन्नता पहिचानकर तू सम्यग्ज्ञान कर, शास्त्र पढकर भी सम्यग्ज्ञान कर। ऐसा ज्ञान जिसने किया उस जीव ने सवर पाया ग्रर्थात् सुख पाया, उसके जन्म मरण के ग्रन्त का मार्ग प्रारभ हुआ, वह दु ख दावानल से छूटकर चैतन्य की परम शान्ति मे आया।

भगवान ग्रात्मा तो शान्ति का सागर है। जैसे बर्फ के पर्वत पर ठण्ड लगती है, वैसे ही ग्रकषायमय शान्ति की शिलारूपी निज ग्रात्मा मे प्रवेश करने पर शीतल-शान्ति का वेदन होता है ग्रौर कषायाग्नि वुझती है। सम्यग्ज्ञान बिना तो सारा ससार कषाय की भट्टी मे जल रहा है। शुभाशुभ राग मे ही जीवन व्यतीत हो जाय और राग रहित ज्ञान न करे तो ग्रात्मा का कल्याण किंचित् भी नही होगा। भाई, दुनिया को राजी रखने के लिए तू ग्रपना जीवन खपा देता है, परन्तु दुनिया तेरा साथ नही देती, राग या पुण्य भी तुझे शान्ति नही देता ग्रौर वह स्थायी भी नही रहता। राग ग्रौर सयोग तो सवके सव क्षण मे पलट जावेंगे, वे कही तेरी स्वकीय वस्तु नही है। स्वकीय वस्तु तो ज्ञान है ग्रौर वही तेरा स्थायी साथीदार है।

अरे ! यह तेरे हित साधने का ग्रपूर्व ग्रवसर ग्राया है, इस ग्रवसर मे ज्ञान को विकार से भिन्न कर ले, यदि ऐसा नही करेगा तो तुझे मोक्ष का ग्रवसर भी कहाँ से ग्रावेगा ? सुलगते हुए सूखे वन की तरह राग की चाह मे सुलगते हुए ससार से छूटने के लिए ग्रपने चैतन्य गगन मे से तू सम्यग्ज्ञान के शान्त चैतन्य जल की मेघ धारा बरसा कर ग्रपने को दाह विहीन कर। जिसे ग्रात्मा के ग्रनुभव से ग्रन्तर मे शान्त चैतन्यरस की धारा फूटी वह धर्मी कहता है कि –

ग्रब मेरे समकित सावन ग्रायो।
बीति कुरीति मिथ्यामति ग्रीषम पावस सहज सुहायो।
ग्रनुभव दामिनि दमकन लागी, सुरति घटा घन छायो।
साधकभाव-ग्रंकुर उठे बहु, जित तित हरष छवायो।।

हमारे आत्मा मे सम्यक्त्वरूपी श्रावण मास आते ही मोह की ग्रीष्म ऋतु की अकुलाहट शान्त हो गई है और शान्त रस की घन-घोर धारा असख्य प्रदेशो मे सर्वत्र बरस रही है, मोह की धूल अब उडती नही है, स्वानुभवरूपी बिजली चमकने लगी है और सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप साधक दशा का नवीन आनन्दमय अकुर फूटा है। तथा जहाँ तहाँ स्वानुभव रूपी आनन्द छा गया है।

इस प्रकार धर्मी को सम्यग्ज्ञान की मेघधारा बरसती है और परमानन्द होता है। जिसके अन्दर ऐसी सम्यक् ज्ञानधारा नही बरसती वह अज्ञानी मोह की आकुलता मे जलता है, उसको तो दुष्काल है। ज्ञान की मेघवृष्टि बिना उसको शान्ति कहाँ से मिलेगी? इसलिए हे जीव! तू सम्यग्ज्ञान प्रकट कर। जिससे तेरी विषय चाह की जलन शान्त होगी और साधक दशा प्रारम्भ हो जाएगी। अल्प काल मे ही तू मोक्षरूप साध्य दशा को अवश्य प्रगट करेगा।

आत्मा की समझ मे आवे और समझने पर शान्ति हो – ऐसी यह बात है। एक ओर वीतरागी शान्तरस का सागर और दूसरी ओर ससार का रागरूपी दावानल– इन दोनो को भिन्न जानने वाला सम्यग्ज्ञान राग के दावानल को बुझा देता है और आत्मा को शान्ति मे ठहरा देता है। जहाँ ऐसा सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ ज्ञानी को राग का आनन्द उड गया, अब उसको ज्ञान की अतीन्द्रिय शान्ति मे ही आनन्द आता है। ऐसी शान्ति के वेदन बिना आत्मा की कषाये कभी शान्त नही होती, भले त्यागी होकर व्रत–तप पालता हो या शास्त्रो को रटता हो, परन्तु यह तो सब तोते जैसा ज्ञान है।

प्रश्न –तोते जैसे ज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तरः—एक तोता था। उसके स्वामी ने उसे बोलना सिखाया कि बिल्ली आवे तो उड जाना, बिल्ली आवे तो उड जाना एक बार वास्तव मे बिल्ली आ गई परन्तु तोता उडा ही नही और यही रटता रहा कि बिल्ली आवे तो उड जाना, और फिर बिल्ली ने

तोते को मुँह मे पकड लिया, तो भी विल्ली के मुँह मे पडा-पडा भी वह तोता यही रटता है कि विल्ली आवे तो उड जाना, परन्तु यह रटना किस काम का ? इस घोखन पट्टी से कही अपनी रक्षा नही होती। इसी प्रकार अन्दर मे चैतन्य तत्व क्या है, उसके भान बिना "शास्त्र मे ऐसा कहा है – राग को दु:खदायक कहा है, – ऐसे तोते की तरह रटा करे या अन्दर वैसा विकल्प किया करे, किन्तु वास्तव मे विकल्प से पार होकर अन्तर के चैतन्यतत्व मे परिणाम जोडे नही, तो शान्ति कहाँ से होगी ? विल्ली के मुँह की तरह वह मिथ्यात्व के मुँह मे ही खडा रहकर रटता है कि "विकल्प से भिन्न पडना – ज्ञान-रूप होना, किन्तु सचमुच तो भिन्न होता नही, ज्ञानरूप होता नही तो मात्र शास्त्र-घोटन से कही शान्ति का वेदन नही हो सकता, अतरग मे वैसा भावरूप परिणमन होना चाहिये।

जिसकी चेतना राग से भिन्न पड गई है और जिसे सम्यग्ज्ञान रूप परिणमन हुआ है उसको – मैं राग से भिन्न हूँ – ऐसा रटना नही पडता, ज्ञान को स्थिर रखने के लिए विकल्प नही करना पडता। जैसे किसी तोते को "विल्ली आवे तो उड जाना" ऐसा बोलना न आवे, किन्तु बिल्ली का प्रसग बनने पर स्वय दूर उड जाय तो उसकी रक्षा हो जायगी। उसी प्रकार किसी ज्ञानी जीव को शास्त्रज्ञान भले ही सूक्ष्म न हो, किन्तु राग और ज्ञान की भिन्नता जानकर जिसकी परिणति चैतन्य भावरूप से परिणम गई है उसका ज्ञान तो प्रत्येक प्रसग मे विकल्प से भिन्नपने ही चैतन्य मे वर्तता है, अत जन्म-मरण से उसकी रक्षा होती है।

अहा ! भेदज्ञान होने पर धर्मी नि शंक होता है कि अब मैं मोक्षमार्गी हो गया, अब मेरा भव-भ्रमण का अन्त आ गया। जैसा पूर्ण सुख सिद्ध भगवन्तो को है उसका आशिक सुख मुझे भी हो गया है। अरे, राग मे मेरा चैतन्यधर्म कैसा ? और सुख कैसा ? राग तो अन्धा है, और चैतन्य जागृत है, दोनो अत्यन्त भिन्न हैं। शुभराग मे धर्म या सुख मानने वाले को चैतन्य स्वरूप आत्मा का भान नही

है, वह राग की आग से आत्मा को भिन्न नही कर सकता, वह तो विषयो की दाह मे ही जलता है। जिसमे सुख लगे उससे भिन्न कैसे पडे ? इसलिए कहते है कि हे भव्य ! प्रथम तू ज्ञान और पर का अत्यन्त भेद-ज्ञान करके सम्यग्ज्ञान कर। पर को वास्तव मे भिन्न माने तो उसमे सुख बुद्धि रहे ही नही। चैतन्य सुख को जाने तो दु खदायक राग को सुख का कारण माने ही नही। ज्ञानरूपी मूसलाधार वर्षा जीव की कषायो को बुझा देती है। ज्ञान मे राग की रुचि नही रहती, ज्ञानजल से विषय-कषायो की रुचिरूपी आग बुझ जाती है और चैतन्य की परम शान्ति का प्रवाह वहने लगता है। अज्ञान मे कषायाग्नि की ज्वाला थी, सम्यग्ज्ञान मे से उपशमरस का ऐसा झरना निकला कि कषायाग्नि शान्त हो गई। ऐसे सम्यग्ज्ञान की परम महिमा सभी सन्तो से गाई है। इसलिए हे जीवो ! परम उद्यम से ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट करो।

ज्ञान परिणमन मे मोक्षमार्ग समाया है। समयसार मे कहा है कि ज्ञान का सम्यक्त्व वह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव वाला है, ज्ञान का ज्ञान, वह मोक्ष के कारणरूप स्वभाव वाला है, ज्ञान का चारित्र भी मोक्ष के कारणरूप स्वभाव वाला है। इस प्रकार राग से भिन्न ज्ञान के परिणमन मे मोक्षमार्ग समा जाता है। ज्ञान उसी को कहा कि जो मोक्ष का कारण हो, जो मोक्ष का कारण न हो उसे ज्ञानी ज्ञान नही कहते। इसी प्रकार चारित्र भी उसे कहते हैं जो मोक्ष का हेतु हो, जो मोक्ष का हेतु न हो उसको [शुभराग रूप आचरण को] वास्तव मे चारित्र नही कहते, क्योकि वह कही ज्ञान का चारित्र नही है, वह तो राग का चारित्र है।

अहो, जिसमे मोक्षमार्ग समावे, ऐसे ज्ञान को तो अज्ञानी पहिचानता नही, और शुभराग को मोक्षमार्गरूप से सेवन करता है वह अज्ञान से ससार मे ही भटकता है। भले स्वर्ग मे जावे, परन्तु वह विषयो की आग मे ही सुलगता है, स्वर्ग के विषयो मे कही सुख

है नही, उनमे भी दु ख ही है। सुख तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे है, उसमे राग नही, विपय नही। सम्यग्दर्शन वह राग का नही ज्ञान का ही है, सम्यग्ज्ञान वह राग का नही, ज्ञान का ही है, सम्यक्‌चारित्र वह राग का नही, ज्ञान का ही है। ज्ञान परिणमन मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो समा जाते हैं, किन्तु उसमे राग नही समाता, और राग मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नही रहते। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो राग रहित ही हैं। ऐसे ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा विना, उसके ज्ञान विना, उसके चारित्र विना मोक्षमार्ग आवेगा कहाँ से ? क्या शुभराग में से या पुण्य मे से मोक्षमार्ग प्रकट होगा ? नही। मोक्षमार्ग मे इनका कोई मूल्य ही नही।

जो कर्त्ता होकर राग को करते हैं वे ज्ञान को नही करते अर्थात् राग से भिन्न ज्ञानपने वे नही परिणमते, और जो ज्ञाता होकर ज्ञान को करते हैं वे राग के कर्ता नही होते, उससे भिन्न ही रहते हैं। ज्ञानभाव में रागभाव का कर्तृत्व कैसे होगा ? नही होगा। इसलिए बनारसीदास जी ने कहा है –

करै करम सो ही करतारा, जो जानै सो जाननहारा।
करता सो जानै नहिं कोई, जानै सो करता नही होई ॥

एक ज्ञानधारा और दूसरी कर्मधारा – इनमें परस्पर कर्ता-कर्मपना नही हो सकता। इसी प्रकार एक कर्ता उन दोनो भावो को करे – ऐसा नही होता। जो राग से भिन्न पडकर ज्ञानपने से परिणमा वह ज्ञानी ज्ञान को ही अपने कर्मपने से करता है किन्तु राग को कर्मपने नही करता, उससे भिन्न अकर्ता ही रहता है। जो राग का कर्ता होकर उसमे तन्मय होकर परिणमता है वह जीव ज्ञानी नही अज्ञानी ही है। ज्ञानी तो राग के काल मे भी राग से भिन्न चैतन्यपने ही अपने को जानता है और चैतन्य मे तन्मय होकर ज्ञानपने ही परिणमता है, जब उसमे राग का ही कर्तृत्व नही है तो जड की क्रिया तो कही दूर जड में ही रह गई। शरीर तो धूल का पुंज है,

उसका कर्ता चेतन प्रभु कैसे हो ? चेतन प्रभु को राग का कर्त्तत्व शोभा नही देता । वह तो राग से भिन्न अपने चैतन्य स्वभाव मे अतीन्द्रिय शान्ति सहित ही शोभा पाता है – ऐसा भेद-ज्ञान वह प्रशसनीय है, वह वखान करने जैसा है । जिसने भेद-ज्ञान किया वह धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वही वास्तव मे पडित है ।

अरे ! तेरा सम्यक् स्वरूप क्या है उसे तो पहिचान । भाई ! ऐसा अवसर पाकर यदि अपने सत्य स्वरूप को तूने नही पहिचाना तो तूने क्या किया ? आत्मा के ज्ञान बिना पशु के जीवन मे और तेरे जीवन मे क्या अन्तर हुआ ? और तिर्यंच गति का भी जो जीव भेद-ज्ञान करता है वह प्रशसनोय है, वह देव जैसा है । अरे ? जिसने अपने चैतन्यरस की मिठास चखी, उसे राग मे या पर मे अपनापन मानना कहाँ रहा ? और उसमे मिठास भी कहाँ रही ? चैतन्य के अतिरिक्त अन्य कही भी अतीन्द्रिय आनन्द की मिठास है ही नही । इसलिए भेद-ज्ञान से ज्ञानी अपने चैतन्य के परम आनदमय रस का स्वाद चख कर समस्त जगत से और राग से भी उदासीन होकर विरक्त वर्तते है । अहो ! जो ऐसा भेद-ज्ञान करते है उनका बेडा भव समुद्र से पार हो जाता है ।

लाख बात की बात

सम्यग्ज्ञान की आराधना का उपदेश देने के बाद अब अन्त मे सारभूत बात विशेष रूप से कहते है –

पुण्य-पाप फल माँहि हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि विनसे फिर थाई ।।
लाख बात की बात, यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, निज आतम ध्याओ ।।९।।

देखो ? सम्यग्ज्ञान कैसा है ? कि पुण्य-पाप से भिन्न है। हे भव्य जीवो ! तुम पुद्गल से भिन्न और पुण्य-पाप से भी भिन्न ऐसे चैतन्यस्वरूप आतमा को जानकर सम्यग्ज्ञान प्रकट करो। ऐसे ज्ञान पूर्वक तुम पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-विषाद मत करो, क्योकि वह तो पुद्गल की पर्याय है, वह उपज कर नाश होती है और पुन प्रकट होती है। लाखो बातो मे साररूप ऐसी यह एक बात है, उसको निश्चय से अन्तर मे धारण करो, जगत के सब द्वन्द-फन्द तोड़कर अन्तर मे अपने आत्मा का सदा ध्यान करो।

सम्यग्ज्ञान आत्मा को जानने वाला है, वह परम अमृत है और पुण्य-पाप से भिन्न है। इसलिए कहते है कि हे आत्मार्थी भाई तुम पुण्य के फल मे हर्ष मत करो और पाप के फल मे दु ख मत कर। पहले शुभाशुभ भावो से पुण्य-पापरूप कर्म बाँधे थे, उनके फल मे जो पुद्गल सयोग मिला, वह जीव के वर्तमान प्रयत्न का फल नही है, उसी प्रकार उसमे जीव को सुख-दुख नही है, ज्ञान से वह भिन्न है, अतः उसमे हर्ष–विषाद मत करो, परन्तु उन दोनो से भिन्न ऐसे ज्ञान का सेवन करके पुण्य-पाप मे समभाव रखो। मिथ्यादृष्टि पुण्य-फल मे सुख और पाप-फल मे दु ख मानता है, अर्थात् उसमे हर्ष शोक करता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा की दृष्टि होने से धर्मी जीव पुण्य और पाप एक दोनो को ज्ञान से भिन्न जानता है। लाखो बातो

की सारभूत यह एक ही बात है कि जगत के सकल पुण्य-पाप का द्वन्द-फन्द तोडकर ज्ञान स्वरूप आत्मा को नित्य ध्याओ। यह बात निश्चय करके अन्तर में धारण करो।

पुण्य-फल तो जली हुई खिचडी की तरह है। जैसे जली हुई खिचडी को कौवा, कुत्ता ही खाते है, मनुष्य नही खाता, वैसे ही आत्मा के गुण जले अर्थात् उनमे विकृत होकर राग हुआ, तब पुण्य बँधा। राग या उसका फल कही धर्मी जीव की खुराक नही है, धर्मी तो राग से भिन्न चैतन्यमय शान्ति को ही वेदता है, जबकि अज्ञानी उस राग में और राग के फल मे सुख मानकर उसी को वेदता है। आत्मा अपनी शान्ति मे से हटकर जब बाहर निकला तब शुभराग रूप कषाय भाव हुए, इनसे पुण्य बँधा, और इसके फल में लक्ष्मी इत्यादि पुद्गलो का सयोग मिला, इस प्रकार गुण की विकृति के फल मे धर्मी जीव प्रफुल्लित कैसे हो? इसमे सुख कैसे माने? अरे! शान्ति के लिए मुझे किसी बाह्य सयोग की आवश्यता ही कहाँ है? मेरा ज्ञान स्वय शान्तिस्वरूप है, इसमे राग या राग का फल नही है – ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने गुण का हर्ष कर, प्रमोद कर, चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा मे एकाग्र होकर वीतरागी शान्ति की प्रसन्नता प्रकट कर। (चैतन्य से विरुद्ध राग के फल मे प्रसन्न होना तो मिथ्यादृष्टि का भाव है। सम्यग्ज्ञान होने के बाद जो अल्प हर्ष-शोक होता है वह भी पुण्य-पाप के फल रूप सयोग को इष्ट-अनिष्ट मानकर नही होता, तथा ज्ञान को भूलकर वह हर्ष-शोक नही होता। ऐसे सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिसने पुण्य-पाप मे हर्ष-शोक की बुद्धि छोडकर समभाव प्रकट किया है, उसी को बाद मे श्रावक के अणुव्रत अथवा मुनि के महाव्रत होते हैं, अत उसका वर्णन सम्यग्ज्ञान के बाद करेंगे। सम्यग्ज्ञान बिना श्रावक-मुनिपना नही होता।)

(धन-कीर्ति-दुकान-मकान-निरोगता आदि सारे सयोग ज्ञान के कार्य नहीं हैं, वे तो पुण्य कर्म के कार्य हैं, उनमे हर्ष मत कर। वे तेरे ज्ञान की जाति के नही हैं। उसी तरह रोग-निर्धनता-अपयश आदि

प्रतिकूलताये पापकर्म के कार्य है, वे ज्ञान के कार्य नही हैं, अतः उन प्रतिकूल सयोगो मे हताश मत हो, विषाद मत कर। पुण्य-पाप दोनो से भिन्न परम निराकुल चैतन्यस्वरूप को लक्ष मे ले, और उसी का अन्तर मे ध्यान कर) ज्ञान प्राप्त करके उसका स्वाद चखने पर तुझे पुण्य-पाप दोनो मे से रस उड जावेगा, आनन्द स्वरूप के वेदन से आत्मा स्वय सन्तुष्ट हो जायेगा; उसमे ही सच्ची प्रसन्नता है, और वही पुण्य-पाप दोनो मे समता है।

(जीव ने अनादि से पुण्य को भला मानकर उसमे हर्ष किया, और पाप को बुरा मानकर उसमे विषाद किया, परन्तु शान्ति कही नही मिली। ज्ञानी तो दोनो से पार चैतन्य को जानकर उसमे एकाग्रता से शान्ति का वेदन करता है। मैं अपनी शान्ति को, अपने धर्म को साध रहा हूँ – फिर सयोग मे हर्ष-शोक क्या ? धर्मी को कदाचित् पापोदय से रोगादि प्रतिकूलता हो, आजीविका सबधी कठिनाई हो, अपमान होता हो, तथापि उन सबसे उसे कही धर्म मे शका नही पडती, क्योकि ज्ञान तो सयोग से भिन्न ही है। तथा अज्ञानी के पुण्य का उदय दिखाई पडे, और ज्ञानी के पाप का उदय दिखाई पडे, अज्ञानी राजा हो और ज्ञानी निर्धन हो, इससे कही धर्मी घबडाता नही, कि मैं धर्मी और मेरे समक्ष ऐसे सयोग ? वह जानता है कि यह तो पुण्य-पाप के खेल हैं। ससार मे पुण्य-पाप के खेल तो ऐसे ही होते रहते हैं, मेरा ज्ञान तो उनसे भिन्न ही है। सकल्प-विकल्प की होने वाली तरगावली को लाघकर स्वरूप की शान्ति मे विशेष एकाग्र कैसे हुआ जाय, उसी की धर्मी को भावना है)। पुण्य-पाप के उदय से सयोग मे अनुकूलता के ढेर लगे हो अथवा प्रतिकूला का पार न हो, तथापि उसके कारण वह अपने को सुखी–दु खी नही मानता। हमारा सुख हमारे आत्मा मे है, वह पुण्य-पाप से रहित है, इस सुख को हम अपने सम्यग्ज्ञान से साध ही रहे है, इसलिए पुण्य–पाप दोनो के सयोग के प्रति समभाव है। पुण्य हो या पाप, ज्ञानी दोनो को ज्ञान से भिन्न जानता है, थोडा भी हर्ष-खेद हो

ता उसे भी ज्ञान से भिन्न ही जानता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान स्वय उस हर्ष-खेद मे जुड नही जाता ।

(इस प्रकार पुण्य-पाप से ज्ञान को भिन्न जानकर हे भव्य जीवो ! तुम निश्चय से ज्ञानस्वरूप आत्मा को ही अन्तर मे निरन्तर ध्याओ, यही लाखो वातो का सार है। शास्त्र पढकर, वैराग्य लेकर, निवृत्ति लेकर तथा सत्सग आदि करके भी आत्मा को जानना ही सब बातो का सार है) सब कुछ कर-करके भी यदि आत्मा को नही जाना तो सब असार है – व्यर्थ है। जिसने आत्मा को जान लिया उसने सारभूत सब कर लिया ।

सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा विचारता है कि यदि मेरी श्रद्धा–ज्ञान–शान्ति रूपी आत्मसम्पदा मेरे पास है, तो मुझे बाहर की सम्पदा से क्या काम ? और जहाँ ऐसी आत्मसम्पदा न हो वहाँ बाह्य सम्पदा के ढेर भी लगे हो ता भी उनसे क्या ? रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे भी कहा है –

यदि पापनिरोधोऽन्य सम्पदा कि प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा कि प्रयोजनम् ।।२७।।

(यदि मेरे सम्यक्त्वादि से आस्रव का निरोध है तो उसके फल मे केवलज्ञानादि अनन्त चैतन्य सम्पदा मुझे सहज मे मिलेगी, फिर मुझे बाह्य सम्पदा का क्या काम है ? और बाह्य सम्पदा के लिए यदि पाप-कर्म का आस्रव होता हो तो ऐसी बाह्य सम्पदा का भी मुझे क्या करना है ? मै भगवान-आत्मा स्वय असीम चैतन्य सम्पदा का भण्डार हूँ आत्मा की सम्यक्-श्रद्धा-ज्ञानादि अचिन्त्य रत्नो का पिटारा मेरे पास है तो फिर बाहर की जड–लक्ष्मी से मुझे क्या प्रयोजन ? सम्यक्त्वादि के प्रताप से मेरे अन्दर मे सुख-शान्तिरूप समृद्धि वर्तती ही है फिर मुझे अन्य किसी से क्या काम ?) और जिसको अन्तर मे शान्ति नही है, सम्यग्दर्शन–ज्ञानादि रत्नो की सम्पदा जिसके अन्तर मे नही है, तो बाहर की सम्पदा के ढेर से

उसे तो क्या लाभ होगा ? सच्ची सम्पदा तो वह है कि जिससे आत्मा को शान्ति मिले, अर्थात् आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान वीतरागता ही वास्तव मे सम्पदा है। ऐसी सम्पदा वाला सुखिया धर्मात्मा बाहर की अनुकूलता–प्रतिकूलता दोनो को अपने से भिन्न जानता है, अर्थात् उनमे उसे हर्ष-शोक नही होता, ज्ञान जुदा ही जुदा रहता है। ऐसा सम्यग्दर्शन–ज्ञान अन्तर मे प्रकट करना ही सबका सार है।

(मूढ लोग बाह्य लक्ष्मी को ही सर्वस्व मानते हैं, वे लक्ष्मी के लिए जीवन खपा देते हैं और अनेक प्रकार के पाप बाँधते है, उन्हे सुख कभी नही मिलता। बापू ! ज्ञानादि अनन्त चैतन्यरूप तेरी सच्ची लक्ष्मी तेरी आत्मा मे ही भरी है, उसे देख ! तेरी चैतन्य सम्पदा मे बाहर को अनुकूलता या प्रतिकूलता कैसी ? ऐसी चैतन्य सम्पदा के भान बिना सच्ची शान्ति या श्रावकपना नही होता। सम्यग्दृष्टि की दशा तो पुण्य-पाप से भिन्न ही होती है।) सम्यग्दर्शन के प्रताप से त्रिलोक मे श्रेष्ठ सम्पदारूप सिद्ध पद प्राप्त होता है फिर दूसरी किसी भी सम्पदा का क्या प्रयोजन है ? बाह्य सम्पदा, तो वास्तव मे सम्पदा ही नही है।

अरे जीव ! पाप के फल मे तू दुखी मत हो, हताश मत हो सयोग के समय ही उस सयोग से तेरा ज्ञान तो भिन्न ही है, उसे पहिचान। पाप का उदय आने पर चारो ओर से प्रतिकूलताय आ पडे, स्त्री-पुत्रादि मर जावें, असाध्य रोग से पीडा हो जावे, धन नाश हो जावे, गृह दहन जावे, महा अपयश हो जावे, अरे ! नरक का सयोग भी मिले, श्रेणिक आदिक आदि असख्य सम्यकदृष्टि जीव नरक मे है इस प्रकार एक साथ ही हजारो प्रतिकूलताये आवे तथापि सम्यग्दृष्टि अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा को नही छोडता है। भाई ! इन सयोगो मे आत्मा कहाँ है ? आत्मा तो इनसे भिन्न है, और आत्मा का आनन्द उसी मे है, अत आत्मा का ही आश्रय कर, इससे तुझे चैतन्य की अपूर्व शान्ति का वेदन होता रहेगा।

जिस प्रकार प्रतिकूलता से भिन्नपना कहा उसी प्रकार पुण्य के फल मे चतुर्दिक् अनुकूलता हो – स्त्री-पुत्रादि अच्छे हो, निरोग शरीर हो, धन हो, बगला-मोटर आदि हो, यश चारो तरफ फैल रहा हो, अरे ? देवलोक मे उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि की ऋद्धि हो, तथापि उन सबसे क्या लाभ ? उन सयोगो मे कही आत्मा है क्या ? आत्मा तो उनसे भिन्न ही है, आत्मा का आनन्द आत्मा मे है – ऐसा धर्मी जानता है और उसके ज्ञान मे उसका ही वेदन वर्तता है। पुण्य-पाप के कारण वह अपने को सुखी-दुखी नही मानता। जैसे किन्ही अरहन्तो को तीर्थंकर प्रकृति के उदय से समवशरणादि का अद्भुत सयोग होता है, परन्तु उन सयोग के कारण अरहन्त भगवान सुखी नही है उनका सुख तो आत्मा के केवलज्ञानादि परिणमन से ही है, अर्थात् वे "स्वयभू" हैं, उनमे किसी दूसरे की अपेक्षा नही है, उसी प्रकार निचली दशा मे भी सर्वत्र ऐसा ही समझना। सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध चैतन्य परिणमन से ही सुखी है, पुण्य से अथवा बाह्य सयोग से नही।

भाई ! ससार मे पुण्य-पाप के फल तो चलती-फिरती छाया जैसे हैं। कोई आज वडा जौहरी हो और कल भिखारी हो जाय, पैसा-पैसा मागता फिरे, अथवा आज तो भिखारी हो और कल ही बडा राजा बन जाय, क्या यह ज्ञान का काम है ? यह तो जड पुद्गल की क्रिया है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, उसमे न तो पुण्य है और न पाप है, पुण्य-पाप के कारणरूप राग भी आत्मा के ज्ञान स्वभाव मे नही है। ऐसे अपने स्वरूप को करोडो उपायो से भी पहिचानना योग्य है, तथा जगत के झझट छोडकर अन्तर मे उसी आत्मा का ध्यान करना उचित है – यही लाखो बातो का सार है। इसके बिना दूसरी लाखो बातें भले करे, परन्तु मात्र बातो से वडा नही बन सकता – आत्मा के कल्याणपथ पर नही जा सकता। ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करके सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रकट करने पर जन्म-मरण का फन्दा छूट जाता है, इसलिए वही वास्तव मे सार है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना दूसरी लाखो बाते सब असार हैं – उनमे सार नही, और आत्मा का किंचित् भी हित नही है ।

शुभ-अशुभभाव भावकर्म है, पुण्य-पाप कर्म द्रव्यकर्म है, और उनके फलरूप अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री नोकर्म है – इन तीनो मे कही आत्मा की शान्ति नही है अत उनकी रुचि छोड । उन सबसे भिन्न अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा महा आनन्द और शान्ति का धाम है। यदि तू अनन्तकाल से अप्राप्त अपूर्व आत्म-शान्ति चाहता है, अपना महान चैतन्य निधान देखना चाहता है, तो पुण्य-पाप, राग-द्वेष और बाह्य सामग्री से भिन्न अपने चैतन्य की ओर सोल्लास सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर और उसी का ध्यान कर । यही सर्व शास्त्रो का सार है और ससार के अभाव का उपाय है ।

देखो ! यही मुमुक्षु को करने जैसा कार्य है । कब ? कि सदा ही "नित आतम ध्यावो" अर्थात् आत्मा को सदा पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञान स्वरूप ही भावो । पुण्य के फल से मैं सुखी और पाप के फल से मैं दुखी – ऐसा एक क्षण भी मत भावो, किन्तु इन दोनो से भिन्न ऐसे अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा को सदा भावो । उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके अपने अन्तर मे ही उसका ध्यान धरो – यही भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा है और सन्तो ने भी ऐसा ही कार्य किया है । सन्तो के सर्व उपदेश का सार इसमे ही समा जाता है ।

शरीर के हाथ-पैर की क्रियायें तो जड की हैं, उन क्रियाओ को करने का आत्मा का अधिकार नही है क्योकि आत्मा उनसे अत्यन्त भिन्न है । राग-द्वेषादि भाव अपनें मे होते हैं परन्तु वे भी आत्मा के चैतन्यस्वरूप से बाह्य हैं, अत राग-द्वेष की, पुण्य-पाप की और उनके फल की रुचि छोडकर, उनसे भिन्न ऐसे अपने चैतन्य तत्व की ही प्रीति कर और अन्तर मे उसकी ही महिमा करके चित्त को उसमे ही एकाग्र कर । शान्ति का मार्ग यही है, बाकी पुण्य-पाप के फल तो थोथे है, जड हैं, उनमे कही शान्ति नही है । चैतन्य की

शान्ति मे घुसने पर जगत का फन्दा कैसा ? और पुण्य-पाप का द्वन्द कैसा ? जब आत्मा अन्तर्मुख होकर शान्ति के वेदन मे उतर गया, तब पुण्य-पाप, हर्ष-शोक अथवा राग-द्वेप का द्वन्द फन्द नही रहता । हे मुमुक्षु ! हित के लिए आत्मस्वरूप को जानकर उसी की भावना कर। पुण्य मे सुख है, जड की सामग्री मे सुख है, या वह जड की क्रिया मेरी है – ऐसा क्षणमात्र भी चिन्तवन मत कर । पुण्य-पाप तो जगत के फन्द हैं और आत्मा आनन्दकन्द है, आनन्दकन्द मे राग-द्वेष के फन्द नही हैं ।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसे जानो । परवस्तु आत्मा के अधिकार की नही है, अत चिन्ता छोडकर सदा अपने आत्मा को पुण्य-पाप से भिन्न करके ध्यावो । पुण्य-पाप अथवा सयोग शाश्वत् नही हैं, आत्मा ही शाश्वत् तत्व है, उसको दृष्टि मे लेना ही सम्यग्दृष्टि का सत्त्व है, वही सम्यग्दृष्टि का कार्य है । बीच मे पुण्य-पाप के भाव आवें वे कही सम्यग्दृष्टि के कार्य नही है, वे कही चैतन्य के सत् तत्त्व नही है, वे कही चैतन्य के साथ शाश्वत रहने वाले नही हैं ।

(सत्य ज्ञानवन्त जीव पुण्य-पाप के फलरूप बाह्य पदार्थ मे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नही करता । भिन्न वस्तु से क्या लाभ-हानि है ? और उसमे कैसा हर्ष-शोक कीर्ति हो या न हो, धन हो या न हो, मकान हो या न हो,शरीर निरोग हो या रोगी हो, इन सबसे निरपेक्ष रहकर "मैं तो ज्ञानमात्र हूँ और ज्ञान ही शान्तिस्वरूप है" – ऐसे अपने आत्मा का ही ध्यान करो ।)

जगत के फन्द मे या पुण्य-पाप के द्वन्द मे मत पडो । ससार मे पुण्य तुझे ऊँचा चढायेगा, ओर पाप नीचे गिरायेगा, अत ऐसे पुण्य-पाप के फन्दे मे तू मत पड । यह सब द्वन्द-फन्द छोडकर सदा उनसे भिन्न चिदानन्द स्वरूप आत्मा का ध्यान कर, यही लाखो बातो मे सार बात है । हित की नीति तो यही है । अन्य कोई हित इस जगत जजाल मे है ही नही । ससार के लाभ के लिए, धन के लिए, रोग मिटाने के लिए, कुदेवादि की मान्यता करना तो अज्ञान है । धर्मी

जीव वीतराग भगवान का भक्त है, वह कभी सासारिक फल की वाँछा नही करता। आत्मा के स्वभाव के अलावा अन्य किसी की उसे भावना नही होती। चाहे जितनी अनुकूलता प्रतिकूलता आ जावे तो भी सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक मे एकाकार होकर ज्ञान स्वभाव को नही भूलता।

कोई कहे कि हम जैन हैं, वीतरागदेव के भक्त हैं, और वह तनिक सी अनुकूलता आने पर ललचा जावे तथा हर्ष मे एकाकार हो जावे, अथवा प्रतिकूलता आने पर अन्दर महा खेद-खिन्न होकर उस खेद मे एकाकार हो जावे, हर्ष-शोक से भिन्न ज्ञान को भूल जावे, सयोग बिखरने पर ऐसा माने, मानो आत्मा ही खो गया हो – यह वीतराग के भक्त को शोभा नही देता। जिन भगवान का भक्त धर्मी तो चाहे जिस सयोग मे पडा हो फिर भी सयोग से भिन्न आत्मा को भूलता नही है, आत्मा का ज्ञान छोडकर उसको हर्ष-शोक नही होता, ज्ञान हर्ष-शोक से भिन्न ही रहता है अर्थात् उसमे शान्ति का वेदन रहता है।

बहुत से लोग कहते हैं कि 'अरेरे! हमे तो कही भी शान्ति नही है। परन्तु भाई, तू अपने को वीतराग का भक्त और जिनेश्वर का पुत्र मानता है फिर तुझे शान्ति क्यो नही? विचार तो कर! वीतराग का पुत्र राग मे या राग के फल मे नही अटकता, वह तो दोनो का ज्ञाता रहकर अपने ज्ञान की अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है। नरक की प्रतिकूलता के सामने यहाँ की प्रतिकूलता भला किस गिनती मे है? तथापि वहाँ की घोर प्रतिकूलता के बीच मे भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को उस प्रतिकूल सयोग से भिन्न ज्ञान स्वरूप जानता है, और उसकी शान्ति का वेदन वहाँ भी करता है। हर्ष-शोक से पार आत्मा के आनन्द का स्वाद उसने चखा है। नरक के सयोग मुझे अनिष्ट और स्वर्ग के सयोग मुझे इष्ट – ऐसा वह नही मानता। वह तो मानता है कि मेरा ज्ञान सभी सयोगो से भिन्न है, कोई भी बाह्य वस्तु मुझे इष्ट-अनिष्ट नही है। अपना मोह

अनिष्ट है और ज्ञान इष्ट है। जीव मे तो ज्ञान की छाप है, सयोग की छाप जीव मे नही है। यह सयोग जीव को इष्ट और यह सयोग अनिष्ट – ऐसा नही है। जीव तो ज्ञान है, ज्ञान मे सभी ज्ञेय है, ज्ञान के लिए कोई भी सयोग ठीक-अठीक नही है, इस प्रकार धर्मी अपने को पर से भिन्न ज्ञानपने ही अनुभव करता है।

अज्ञानी मानता है 'कि समय बदलता है जब सभी पलटता तब, मानो सयोग पलटने पर आत्मा ही सारा पलट गया हो , इस प्रकार अज्ञानी सयोग में ही हर्ष-शोक किया करता है। किन्तु भाई सयोग में तू है ही कहाँ ? सयोग पलटने पर तू कहाँ पलटा है ? तू तो ज्ञानरूप ही रहा है। सयोग से भिन्न ज्ञानस्वरूप को लक्ष मे तो ले, ऐसा करने से तेरी हर्ष-शोक की बुद्धि छूट जावेगी जो सयोग मिलने पर तुझे उत्पन्न हो जाती है, और ज्ञान की भावना स अपूर्व शान्ति का वेदन होने पर ससार के जन्म-मरण का फन्दा कट जावेगा, इसलिए भेद-ज्ञान करके ऐसी ज्ञानभावना निरन्तर करना चाहिए यही जगत मे सार है। ज्ञान की भावना भाना और पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक नही करना। जब पर-वस्तु की ममता करे तब ही उसे भली-बुरी माने और हर्ष-शोक उत्पन्न हो, किन्तु पर-वस्तु मेरे मे है ही नही, मैं तो ज्ञान हूँ – इस प्रकार पर से भिन्न आत्मा के स्वभाव को भावे तो उसमे हर्ष-शोक नही हो, जन्म-मरण का द्वन्द नही हो, और ससार के फन्द से छूटकर आत्म-शान्ति प्रकट हो।

सिद्धान्त यह है कि आत्मा का ज्ञानस्वभाव ही भला है सुन्दर है, और समस्त पुण्य-पाप का विकार बुरा है। इसके अतिरिक्त ससार मे कोई वस्तु भली-बुरी नही है। इस प्रकार ज्ञान को ही सुन्दर – भला मानकर, पर को भला-बुरा नही मानना चाहिए और उसमे हर्ष-शोक भी नही करना चाहिए। जिसने पर को हित रूप या अहितरूप माना, उसने सारे जगत के प्रति राग-द्वेष करने जैसा माना अर्थात् उसके अनन्तानुबधी राग-द्वेष हुआ। जब पर से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को जाने और उसे ही भला – सुन्दर सुखरूप

माने तब उसमे सन्मुखता हो और पर मे राग-द्वेष का अभिप्राय छूटकर स्वभाव प्रकट हो। अत ज्ञानस्वरूप का निर्णय करके उसके सन्मुख होना, यही लाखो बातो का सार है और यही सुखी होने का मार्ग है।

ज्ञानी पुण्य के फल मे मिली सामग्री को हितकर और पाप के फल मे मिली सामग्री को अहितकर नही मानता। मैं उनसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा आत्मज्ञान ही मुझे हितकर है, अन्य कुछ भी हितकर नही। अज्ञान ही अहितकर था उसका तो नाश हो गया है। अज्ञानी को भी वास्तव मे पर-वस्तु कही अहितकर नही है, उसको भी उसका अज्ञान ही अहितकर है। द्वितीय ढाल मे कहा था मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रवश जीव जन्म-मरण के दु ख भोग रहा है। इसलिए इन तीनो को छोड दो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।

रागादि तो प्रकटपने दु.ख हैं, राग अशुभ हो या शुभ हो, दोनो मे दु ख ही है, परन्तु अज्ञानी उनमे सुख मानकर सेवन करता है और उनके फल मे सुख-दु ख मानता है। दूसरी ढाल में कहा है :–

रागादि प्रगट ये दु.खदैन तिनही को सेवत गिनत चैन।

देखो यह अज्ञानी का लक्षण, भाई राग से भिन्न तेरा ज्ञान ही तुझे सुख देने वाला है। पुण्य-पाप तो आस्रव हैं वह तो ससार का कारण है, उसमे सुख कैसे होगा? भेद-ज्ञान समान कोई सुख नही, भेद-ज्ञान के अलावा कोई मोक्ष का कारण नही। इसलिए हे मोक्षार्थी जीव! सर्व प्रयत्न से ऐसे आत्मा का ज्ञान करके उसको ही ध्यावो। सकल जगत के द्वन्द-फन्द को छोडकर अन्तर में लाख उपाय करके भी अपने आत्मा को लक्ष मे लो, उसी का ध्यान करो, यही द्वादशाग का सार है।

"सकल जगत" कहने पर, ससार म पुण्य के फल हो अथवा पाप के फल हो, वे सब उसमें आ गए। आत्मा का ज्ञान उन सबसे

भिन्न है। सकल जगत से भिन्न शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघन स्वय ज्योति सुखधाम – ऐसा अनुभव ही ज्ञानीदशा है। ऐसे अनुभव विना तो सब थोथा [तोते जैसा ज्ञान] है, वह कुछ सारभूत नही है। सार तो सम्यग्ज्ञान है कि जो मरण के समय भी जीव को समाधि प्रदान करता है।

मरण बेला आवे, शरीर कुछ काम न करे, श्वास भी सीधी न आवे, तथापि यह सब विषमताये आत्मा के ध्यान मे बाधक नही हैं। आत्मा के ऊपर जिसकी दृष्टि है वह बाह्य प्रतिकूलता के समय भी अन्दर सम्यग्ज्ञान और शान्ति रख सकता है। शरीर भले ही अनुकूल न हो, शरीर ठीक रहे तो ही आत्मा का ध्यान हो – ऐसा नही है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान की अपेक्षा शरीर का मूल्य बढ जावेगा। शरीर भले ठीक हो या न हो, भले सुलगता हो, परन्तु ज्ञान ठीक हो तो पाण्डवो और गजकुमार मुनि के समान आत्मा का ध्यान और शान्ति हो सकती है। शरीर ध्यान में विघ्न नही डालता और सहायता भी नही करता। कोई अज्ञानी हो, पुण्य करके स्वर्ग जावे, वहाँ उस देव को असख्यवर्ष तक सुन्दर निरोग वैक्रियक शरीर आदि स्वर्गानुकूल सयोग होने पर भी यदि वह सम्यग्दर्शन प्रकट नही कर पाता, तो वहाँ पुण्य या उसके फल ने उसका क्या हित किया ? और इसके विपरीत कोई जीव पाप करके नरक में गया, वहाँ असख्य वर्ष तक नरक की भयकर प्रतिकूलता के मध्य भी, उससे भिन्न चैतन्य का भान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, तो वहाँ उस प्रतिकूल सयोग ने उसका क्या बिगाडा सयोग तो आत्मा से भिन्न है। भाई ! वह तो चैतन्य को कभी स्पर्श ही नही करता।

अरे ! नरक में प्रतिकूलता की क्या बात ? जहाँ शरीर में करोडो भयकर रोग हैं, असख्यवर्ष तक खाने को दाना और पीने को पानी की बूद भी नही मिलती, शरीर के तिल-तिल जैसे खण्ड हो जाते हैं, नारकी एक दूसरे को पकड़कर बाँधते हैं, लोहे की कडाही मे डालते है और ऊपर से मुह बद करके घन मारते है, गरम लोहे

के आभूषण पहनाते हैं, लोहा पिघलाकर मुँह मे डालते हैं, तथापि ऐसी प्रतिकूलता के बीच में भी, जो कोई जीव उनमे सम्यग्दृष्टि होता है वह जानता है कि अरे ! मेरे चैतन्य को यह सयोग छूते ही नही, इस प्रतिकूलता का प्रवेश मेरे चैतन्यभाव मे है ही नही, मैं तो उससे भिन्न ज्ञानानंद स्वरूप आत्मा हूँ। तथा कोई जीव उस समय ही ऐसा भान प्रकट करके सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर लेते हैं। बाहर मे शरीर तो कडाह के अन्दर जल रहा है और उसी समय आत्मा अतीन्द्रिय शान्ति में मग्न है। देखो तो सही ! चैतन्यतत्व का स्वभाव उन प्रतिकूल सयोगो में रहकर भी उनसे भिन्न ही है।

उन प्रतिकूल सयोगो के समय भी, पूर्वभव मे किन्ही मुनिराज के पास से चैतन्य की बात सुनी हो, और वे सस्कार जाग उठे कि अरे ! क्या ऐसे प्रतिकूल सयोग और दु ख के वेदन मे ही सदा रहने का आत्मा का स्वरूप होगा ! अथवा अन्दर कोई शान्ति की वस्तु भी होगी। मुनिराज मुझसे कहते थे कि हे आत्मा ! तू तो आनन्दस्वरूप है – इस प्रकार स्मरण करके वह तुरन्त अन्दर उतर जाता है और आत्मा का अनुभव करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, परम चैतन्य का स्वाद चख लेता है। वहाँ नरक के सयोग के बीच मे पडा-पडा भी, चैतन्य के आनन्द का वेदन करता है। सयोग मे तो शरीर पडा है, आत्मा तो उस समय भी असंयोगी चैतन्यभाव मे झूल रहा है और परम सुख वेद रहा है। अरे ! एक बार सयोग से भिन्न अपने आत्मा की दृष्टि तो कर। अनन्त परद्रव्य और परभावो से भिन्न टिके रहने की अपूर्वशक्ति उस दृष्टि मे भरी है, तीनो लोक खलबला उठे तो भी वह अपने स्वरूप से चलित नही होती। स्वरूप-दृष्टि होते ही चैतन्य की अपार दौलत प्रकट हो जाती है।

बाहर के प्रतिकूल सयोग तो आत्मा से बाह्य हैं, वे कही आत्मा मे घुस नही गये है। पूर्व मे किसी मुनि या ज्ञानी ने आत्म-स्वरूप समझाया, तब उसकी महिमा नही जगी, और पाप करके यहाँ

नरक मे जन्म लिया । अरे ! ऐसा दु ख । परन्तु आत्मा को ऐसे दु ख का वेदन सदा रहने वाला नही, अन्दर कोई न कोई छुटकारे का उपाय अवश्य होगा । अन्दर शान्ति का स्थान कोई अवश्य होगा । ऐसा विचारने पर आत्मा का स्वरूप लक्ष मे लेकर अन्दर उतरकर वह नारकी का जीव क्षणभर मे सम्यग्दर्शन पा जाता है । स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव को भी जो सुख नही, वैसा अपूर्व सुख वह अनुभव कर लेता है । सयोग तो सयोग मे रहा और वेदन वेदन मे रहा, अन्दर चैतन्यपरिणति उस सयोग और सयोग की तरफ के वेदन से छूटकर, असयोगी आनन्दमय तत्व मे घुस गई है – ऐसी धर्मी की दशा है ।

आत्मा स्वय आनन्द है, प्रतिकूल सयोग भले खडा हो, परन्तु वह अरूपी आत्मा से भिन्न है, उसमे आत्मा मिल नही गया है । ऐसे आत्मा को लक्ष मे ले तो कितनी शान्ति हो । सयोग के कारण कही अशान्ति नही है, बापू ! तू उसका लक्ष छोड । लाख प्रतिकूलता हो तो भी उनसे पार आत्मा का ध्यान कर । यही लाख बात का सार है और यही शान्ति का उपाय है ।

तू शरीरादि को अनुकूल रखने की जितनी चिन्ता करता है उतनी चिन्ता यदि आत्मा के हित के लिए करे तो अवश्य ही हित हो । शरीर की चिन्ता तो निरर्थक है, उसमे तेरा कुछ भी वश नही चल सकता । शरीर प्रतिकूल भले हो, किन्तु उससे भिन्न आत्मा की दृष्टि और उसकी शान्ति का वेदन उसी समय हो सकता है । शरीर की प्रतिकूलता कही उससे भिन्नता की दृष्टि करने से रोक नही सकती । अत उसमे हर्ष-विषाद मत करो । नित्य आत्मा का ध्यान करो । चाहे जैसा सयोग हो परन्तु है तो वह पर मे ही, वह आत्मा मे है ही कहाँ ? आत्मा अपने परिणाम मे उसी समय उससे भिन्न अन्तर-लक्ष कर सकता है कि मैं तो आनन्द हूँ, सिद्ध जैसा मेरा स्वभाव है, मेरे चैतन्य वेदन मे दु ख का अभाव है – इसप्रकार

सयोग के समय सयोग से पार आत्मा का वेदन करे तो प्रतिकूल संयोग के मध्य भी अपूर्व शान्ति का वेदन रहता है।

देखो न ! शत्रुजय पर्वत पर ध्यान-लीन पाण्डवो का शरीर गरम लोहमय आभूषणो से दग्ध हो रहा था फिर भी वे पाण्डव चैतन्य की अन्तर शान्ति मे कैसे मग्न थे ? ऐसे मग्न थे कि उन्हे शरीर का लक्ष भी नही रहा और उसी शान्ति में मग्न रहकर आत्मकल्याण कर लिया। चैतन्य में कितनी अगाध शक्ति भरी है। उसका यह नमूना है; तथा गज कुमार श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे, जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था, वह मुनि होकर ध्यान मे खडे थे, तब मस्तक तो अग्नि मे भड-भड सुलग रहा था, किन्तु वह तो अन्दर चैतन्य की शान्ति रूपी वर्फ मे मग्न थे, वहाँ अग्नि का कोई भी दु ख उन्हे नही था, उस अग्नि की ज्वाला मे यह शक्ति थी ही कहाँ कि वह चैतन्य की शान्ति को छू भी सके। देखो तो सही, यह चैतन्य तत्व ! बाहर की प्रतिकूलता इस चैतन्य तत्व मे है ही कहाँ ? उसी तरह समवशरणादि अनुकूल सयोग हो तो उनसे भी आत्मा को क्या लाभ ? उनका भी लक्ष छोडकर मुनिवर आत्मध्यान मे लीन होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जो जीव बाह्य लक्ष छोडकर स्वय अपने ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा की संभाल नही करते वे जीव तीर्थंकर भगवान के समक्ष रह कर भी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। अरे भाई ! बाहर की अनुकूल वस्तु आत्मा को क्या करे ? ज्ञानानद का कोष तो अपनी आत्मा मे अन्दर ही है, उसको लक्ष मे न ले तो समवशरण मे भले ही बना रहे, किन्तु वह मिथ्यादृष्टि–दु खी ही है। यद्यपि समवशरण मे बाहर का कोई दु ख नही है तथापि वह जीव अन्दर अपने मिथ्याभाव से दु खी ही है, सुख का धाम तो उसने देखा ही नही। तथा जिसने ज्ञानानद-स्वरूप के धाम आत्मा मे दृष्टि की, उसने सातवें नरक के अत्यन्त असहनीय कष्टदायक बाह्यसयोगो मे रहकर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न

करके आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का वेदन कर लिया, और जन्म-मरण के नाश का अवसर प्राप्त कर लिया।

चैतन्य तत्व का सयोग के साथ क्या सम्बन्ध है? पर-सयोग के साथ एकता की कल्पना से जीव दु खी है। उस सयोग मे सुख-दुख मानना तो कल्पना मात्र है। वास्तव मे जीव को सयोग का नही किन्तु अपनी परिणति का वेदन है। "सम्यग्दृष्टि नरक मे भी सुखी और मिथ्यादृष्टि देवलोक मे भी दु खी" – ऐसा सयोग की तरफ से कहा जाता है, परन्तु वास्तव मे तो सम्यग्दृष्टि अपनी निर्मल परिणति मे सुखी है, और मिथ्यादृष्टि अपनी मिथ्या परिणति मे दु खी है। बाहर का सुख-दु ख जीव को नही है। इसलिए हे भाई! पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक अथवा सुख-दु ख न मानकर, उन दोनो से पार ऐसे चिदानद तत्व को लक्ष्य मे लेकर समभाव से उसको घ्यान करो, यही सुख की रीति है।

सब जीवो को सुख की चाह है। वीतराग-विज्ञान वह सुख का कारण है और उसकी ही यह बात है। आत्मा ज्ञानानद स्वरूप है, उसकी सन्मुखता से उसको जानकर उसमे एकाग्र होने पर अपूर्व शान्ति होती है, और दु ख के कारणरूप पुण्य-पाप की उत्पत्ति ही नही होती तथा पूर्व मे बँधे हुए कर्म भी खिर जाते है। पूर्व मे जो शुभाशुभ भाव किये थे, उनसे पुण्य-पाप कर्म बधे थे, उनके फलस्वरूप बाहर मे जो अनुकूल–प्रतिकूल सयोग वर्तमान मे प्राप्त हुए उनको पुद्गल पर्याय जानो, अर्थात् ज्ञान से भिन्न जानो और उनमे हर्ष-शोक मत करो। अनेकविध पुद्गल पर्यायें उपजती और नष्ट हो जाती हैं, वह पुद्गल कभी देवपयाय के शरीररूप बनता है, वह पर्याय नष्ट होकर पुन वही पुद्गल कभी नरक मे नारकी के शरीररूप बन जाते है। यह सब पुद्गल की लीला है। मैं उन सभी पुद्गल पर्यायो से भिन्न चैतन्यस्वरूप हूँ – ऐसा जानो। अन्य सभी लाख काम छोडकर भी ऐसे आत्मा को अन्तर मे ध्यावो, वही मोक्ष दातार है।

पुण्य-पाप की उत्पत्ति ज्ञान मे नही होती, उनकी उत्पत्ति तो पराश्रित विकार मे से होती है और उसका फल पुद्गल-सयोग है, जो जीव से भिन्न है। शुभकर्म के फल मे भी जीव को धर्म या सुख नही मिलता, कर्म का फल तो ससार ही है। इसप्रकार पुण्य-पाप का स्वरूप उनके फन्द रहित ज्ञानस्वरूप आत्मा को सदा ध्यावो। अहा! धर्मी की दशा मे ज्ञान और राग भिन्न पड गया है। शुभराग से पुण्य और अशुभ से पाप – इनमे ज्ञान कही नही आया, ज्ञान अर्थात् धर्म तो उन दोनो से भिन्न वस्तु है। ऐसे ज्ञानस्वरूप का अनुभव ही सार-भूत है – मोक्षमार्ग है। पुण्य या पाप कही सार नही है, वे तो असार संसार के मार्ग है। मोक्ष के मार्गरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुण्य पाप से रहित है। पुण्य मोक्षमार्ग नही है, वह तो कर्मबन्ध है, पुद्गल है, और उसका फल बाहर मे आता है, वह पुद्गल की अवस्था है। सयोग जीव को सुख-दु ख नही देते। सयोग के समय भी सयोग तो ज्ञान से भिन्न ही रहता है। हे भव्य! ऐसा मनुष्यपना पाकर करोडो उपायो से भी तू सम्यग्ज्ञान प्रकट कर।

देखो, सम्यग्ज्ञान के लिए इसी ग्रन्थ मेबारबार कितनी प्रेरणा दी है।

जगजाल भ्रमण को देहु त्याग, अब दौलत निज आतम सुपाग,

– दूसरी ढाल, छन्द १५

आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है।

– तीसरी ढाल, छन्द २

दौल! समझ सुन चेत सयाने काल वृथा मत खोवै,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक् नहि होवै।

– तीसरी ढाल, छन्द १७

ज्ञान समान न आन जगत मे सुख को कारण

– चौथी ढाल, छन्द ४

पै निज आत्तमज्ञान बिना सुख लेश न पायो

– चौथी ढाल, छन्द ५

संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजे ।
– चौथी ढाल, छन्द ६

कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनो ।
– चौथी ढाल, छन्द ७

जे पूरब शिव गए जाहि अरु आगे जैहैं,
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहे हैं ।
विषयचाह–दवदाह जगतजन अरनि दझावै,
तास उपाय न आन ज्ञान घनघान बुझावै ।
– चौथी ढाल, छन्द ८

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ,
तोरि सकल जग द्वन्द-फन्द नित आतम ध्यावो ।
– चौथी ढाल, छन्द ९

अन्तिम ग्रीवक लौं की हद पायो अनत बिरियाँ पद ।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज मे मुनि साधौ ।।
– पाँचवी ढाल, छन्द १३

अब दौल ! होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूकौ यहै ।
– छठवी ढाल, छन्द १५

इस प्रकार छहढाला मे बारबार भेद-ज्ञान की प्रेरणा दी गई है। अमृतचद्र स्वामी भी भेद-ज्ञान की महिमा बताकर समयसार मे कहते है कि भेद-ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त होती है इसलिए केवलज्ञान होने तक अछिन्न धारा से इस भेद-ज्ञान को भावो ।

हे भव्य ! तू भेद-ज्ञान से अन्तर मे आत्मा को कर्म से भिन्न जान । शुभाशुभ राग से भी अपने ज्ञानतत्व को भिन्न जान । पुण्य पाप आत्मा की सन्मुखता से नही होते, वे तो पर-लक्ष से, शुभाशुभ भाव से होते है । आत्मा की सन्मुखता से तो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव

प्रकट होते है और वे शुद्धभाव पुण्य-पाप वन्ध के कारण नही होते, वे तो कर्म छेदन के कारण है ।

पुण्य-पापकर्म के कारण स्वभाव से विरुद्ध ऐसे राग-द्वेषभाव हैं । पुण्य-पाप स्वय पुद्गलकर्मरूप है, जीवरूप नही, और उनके फल मे जो बाहर की सामग्री मिलती है, वह भी आत्मा से भिन्न है । बाह्य सामग्री तो जड है । वह चेतन स्वरूप आत्मा को छूती भी नही है ।

इस प्रकार शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, और उनके फलरूप बाह्य सुख-दु ख यह तीनो द्वन्द आत्मा के ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं । ज्ञान-स्वभाव की ओर झुककर एकाग्र हुआ भाव शुभाशुभ का कारण नही होता, इसलिए ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करो, और पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक छोडो – यह लाख बात की बात है, और करोडो प्रयत्नो से भी यही कार्य करने योग्य है । इस उपाय से ही आत्मा जगत के द्वन्द-फन्द से छूटकर सारभूत मोक्ष सुख का घनी होता है ।

जिसे धर्म करना हो और सुखी होना हो – ऐसे मोक्षार्थी को सर्वप्रथम क्या करना चाहिए ? तो कहते है कि करोडो उपायो से प्रथम मे प्रथम स्व-पर का भेद-ज्ञान करना चाहिए ।

पुण्य के फल मे धन का ढेर या समाज मे वडप्पन मिले तो उससे आत्मा को लाभ नही हो जाता, ये सब मिलने से आत्मा का काम नही हो जाता । आत्मा के हित के लिए कोई सयोग या उसके लक्ष से होने वाला भाव कुछ काम नही आता । मैं ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ – इस प्रकार अपनी वस्तु को पहिचानकर यदि सम्यग्ज्ञान प्रकट करे तो उससे आत्मा का परम हित है, और वह ज्ञान आत्मा की वस्तु होने से आत्मा के साथ अचल रहता है, उसका वियोग नही होता । इसके विपरीत पुण्य के फलरूप सयोग तो छूट जाते हैं ।

अरे जीव ! तू विवेक तो कर कि कौन सी वस्तु मिलने से तेरा हित है ? धन स्त्री आदि का सयोग अथवा भगवान या गुरु का

सयोग – तेरा हित नही कर सकते । तू स्वय सयोग से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर, वह ज्ञान ही तुझे हितरूप है । श्री गुरु भी तुझे ऐसा ही करने उपदेश देते है और ऐसा करना ही श्री देव-गुरु की परमार्थ विनय है ।

अब, जैसे पुण्य का सयोग हित प्रदान नही करता वैसे ही, पाप के फल मे असाता आदि प्रतिकूलता भी हित को नही रोकती । उस समय भी यदि भेद-ज्ञान करे तो यह जीव अपना हित कर सकता है । सयोग क्या करेगा ? नरक मे भी जीव सम्यग्दर्शन पाता है, वहाँ सयोग एक तरफ पडा रहता है और जीव सयोग का लक्ष छोड-कर जीव अपने अन्तर मे उतर कर अपूर्व शान्ति प्रकट करता है ।

सयोग सयोग मे रहता है आत्मा मे उसका प्रवेश नही है । जैसे सयोग के समय जीव आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान कर सकता है, वैसे ही लक्ष बदलकर सयोग से भिन्न आत्मा के लक्ष से भेद-ज्ञान करके धर्मध्यान भी कर सकता है । करोडो प्रतिकूलताएँ दु ख का कारण नही हैं, तथा करोडो अनुकूलताये सुख का कारण नही है, तथापि उनको दु ख या सुख का कारण मानने वाला जीव मिथ्यात्व के महान पाप का सेवन करता हुआ सयोगबुद्धि से अनन्त राग-द्वेष करता है और अनन्त कर्मों से बँधता है ।

सयोग से भिन्न आत्मा को जानकर आत्मा की भावना करने वाले जीव को भविष्य मे ऐसे प्रतिकूल सयोग भी नही आते । सयोग की भावना करने वाला जीव, स्वभाव की भावना छोडकर, स्वभाव का विराधक होकर ऐसे कर्म बाँधेगा कि भविष्य मे महा प्रतिकूल सयोग आयेगे । इसलिए कहते है कि हे भाई ! तू वर्तमान मे ऐसा सुयोग पाकर लाख प्रतिकूलताओ के बीच भी, और बाहर मे लाख काम छोडकर भी अपने आत्मा को पहिचान कर उसका ध्यान कर । आत्मा पुण्य-पाप के सयोग से भिन्न स्वय परम शान्तिरूप निराकुल

और ज्ञान-स्वरूप है। ऐसे आत्मा को लक्ष मे लेकर उसमे झुकी हुई पर्याय सयोग को नही छूती। आत्मा को हर्ष-शोक करा सके ऐसी कोई शक्ति सयोग मे नही है।

पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक नही करना चाहिए, परन्तु ऐसा हो कैसे ? कि मैं पुण्य-पाप से पार चिदानन्द तत्व हूँ, और सयोग मुझसे भिन्न है, वह मुझे सुख-दु ख का कारण नही है, ऐसा भेद-ज्ञान करे, तभी हर्ष-शोक करना मिटे। सयोग के सामने देखते हुए "हर्ष शोक नही करना" ऐसा कहने मात्र से हर्ष-शोक का अभाव नही हो सकता।

प्रश्न – ज्ञानी को भी हर्ष-शोक होता तो दिखाई देता है न ?

उत्तर – वह ज्ञान मे नही होता, ज्ञान से भिन्न पने होता है। धर्मी जानता है कि जैसे सयोग भिन्न है, वैसे ही जो हर्ष-शोक होता है वह भी मेरे से भिन्न है। ज्ञानी पर के कारण हर्ष-शोक नही मानता और ज्ञान मे उनको नही मिलाता, अर्थात् वह हर्ष-शोक उसको अत्यल्प है और वह भी सम्यग्ज्ञान धारा से तो भिन्न ही है। अज्ञानी एक ओर तो सयोग के कारण राग-द्वेष होना मानता है। पुत्रादि जन्मे वहाँ हर्ष होगा ही, तथा उनके मरने पर शोक होगा ही – इस प्रकार वह पर के कारण से हर्ष-शोक होना मानता है। तथा दूसरी ओर वह हर्ष-शोकादि को ज्ञान से भिन्न नही जानता, किन्तु हर्ष-शोक ही मैं हूँ इसतरह उसरूप ही अपने को अनुभव करता हुआ उसको ज्ञान के साथ एकमेक मानता है, अर्थात् उसे ज्ञान को भूलकर मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष होता है, जो अनन्त दु ख का कारण है। सम्यग्दृष्टि को अल्प हर्ष-शोक के समय उससे भिन्न सम्यग्ज्ञानधारा वर्तती है, वह ज्ञानधारा अनन्त सुखमय मोक्ष का कारण होती है – इस तरह ज्ञानी और अज्ञानी के बीच मे महान अन्तर है।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती हो, किन्तु वह उस वैभव मे स्वप्न मे भी सुख नही मानता, अत उसमे राग करने का उसका अभिप्राय नही

होता। अज्ञानी पर-सयोग को सुख का कारण मानता है, इसलिये उसे राग करने का अभिप्राय नही छूटता। ज्ञानी-अज्ञानी का माप अतरग अभिप्रायानुसार है, बाहर के सयोग के अनुसार नही। जब कैलाश पर्वत से ऋषभदेव भगवान निर्वाण को प्राप्त हुए तब भरत जी को थोडा खेद हुआ, वह खेद भगवान के वियोग के कारण नही हुआ, तथा ज्ञानधारा मे भी वह खेद नही हुआ, ज्ञानधारा तो उस समय भी उस खेद से भिन्न जीवत वर्त रही थी। अज्ञानी तो प्रतिकूल प्रसग को ही दु ख का कारण समझकर द्वेष करता है, उस द्वेष से भिन्न ज्ञानधारा उसके नही रहती, द्वेष मे ही लीन होकर वह अज्ञान रूप परिणमन करता है। एक से ही प्रसग मे खेद तो दोनो को हुआ फिर भी एक को तो उस समय खेद से भिन्न ज्ञानधारा वर्त रही है और ज्ञानधारा से वह मोक्ष साध रहा है, जबकि दूसरे को उस खेद और सयोग मे एकत्वबुद्धि होने से अज्ञान वर्त रहा है अत वह ससार का कारण है। अरे! वह अज्ञानी कदाचित् खेद न करे और पुत्र मरण के प्रसग पर शान्ति रखे तो भी चैतन्य के भान बिना वह दु ख के मार्ग मे ही है। भेद-ज्ञान बिना सुख कैसे मिले ?

अहा! भेद-ज्ञान अन्तर की कोई अपूर्व वस्तु है। वह चैतन्य तत्व को किसी राग-द्वेष अथवा सयोग मे मिलने नही देता, भिन्न ही रखता है। ऐसा भेद-ज्ञान जिसे प्रकट हुआ उसकी दशा ही पलट गई, उसके भाव सम्यक् हो गये। अब जो राग-द्वेष रहा, वह अनन्तवें भाग है, ज्ञान उससे भिन्न पडकर अनन्त महान हो गया है, अनन्त शक्ति वाली वह ज्ञानधारा अपने मे राग-द्वेष का अशमात्र भी प्रवेश नही होने देती।

अहा! मेरा परम आनन्द मेरे मे है, वह कही दूसरे द्वारा लाने योग्य नही – इस प्रकार जिसने अपने मे अपना आनन्द देखा, वह बाहर के किसी सयोग मे आनन्द नही मानता अर्थात् उसमे उसे हर्ष नही होता। अज्ञानी अपने आत्मा के आनन्द को देखता नही और ५

मे ही आनन्द मानता है इसलिये उसमे हर्ष करता है। ज्ञानी किसी सयोग को प्रतिकूल नही मानता अर्थात् उसको दुःख का कारण नही मानता, अत उससे उसके ज्ञान मे खेद नही होता, अज्ञानी सयोग को प्रतिकूल और दुःख का कारण मानता है इसलिये वह खेद करता है।

एक ओर चैतन्य का अस्तित्व, दूसरी ओर सयोग का अस्तित्व दोनो का अस्तित्व अपने अपने मे भिन्न-भिन्न है - ऐसा जो नही जानता वह अज्ञानी उनके अस्तित्व को एक-दूसरे मे मिला देता है, किन्तु सभी सयोग चैतन्य से अत्यन्त भिन्न है – ऐसी भिन्नता के भान विना जीव को कभी समभाव नही होता और सुख प्रकट नही होता। सयोग से अपनी भिन्नता जाने, तभी स्वय चैतन्य भावरूप रहकर राग-द्वेष रहित समभाव रख सकता है और सुखी हो सकता है। इस प्रकार भेद-ज्ञान ही सुख का एक मात्र उपाय है। इसलिए हे भव्य ! तू अन्य लाख बातें छोडकर, जगत के द्वन्द-फन्द त्याग कर, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का अन्तर मे ध्यान कर। आत्मा का ज्ञान-ध्यान करने पर ही वीतरागी समभाव होगा और कर्म सहज टल जावेगे। इसके बिना महाव्रतादि करने पर भी कर्मो से छुटकारा नही मिलेगा और किंचित् भी सुख नही मिलेगा। इसलिए कहा है –

लाख बात की बात यहै निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग द्वन्द-फन्द नित आतम ध्याओ॥

आत्मा के स्वभाव की मीठी-मधुर भावना बारम्बार करने जैसी है। जैनधर्म के सब उपदेश का सार यही है कि अपने आत्मा को जगत के पदार्थों से भिन्न, तथा शुभाशुभ भावो से भी भिन्न, ज्ञान-आनन्दस्वरूप जानकर, उसको ही ध्याकर उसी मे एकाग्र होना, इसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते है, यही मोक्षमार्ग है, यही मुमुक्ष का कर्तव्य हैं।

जैसे सम्यग्दर्शन के वर्णन मे नि शकता आदि आठ अग कहे जा चुके है, वैसे हो सम्यग्ज्ञान के साथ भी ज्ञानाचाररूप आठ अग होते है, उन आठ अगो सहित सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। ज्ञान के आठ अग निम्न प्रकार हैं –

१. व्यजनाचार – जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही शुद्ध जानपना हो, उसे व्यजनाचार कहते है।

२ अर्थाचार – जहाँ केवल अर्थमात्र के प्रयोजन सहित शुद्ध जानपना हो, उसे अर्थाचार कहते है।

३ उभयाचार – जहाँ शब्द और अर्थ दोनो मे सधि सहित सम्पूर्ण जानपना हो, उसे उभयाचार कहते है।

४ कालाचार – स्वाध्याय के लिए जो योग्य काल हो, उसका विवेक करके स्वाध्याय करना कालाचार है।

५ विनयाचार – उद्धतपना छोडकर श्रीगुरु के प्रति तथा शास्त्र के प्रति विनयपूर्वक ज्ञान की उपासना करना विनयाचार है।

३ उपधानाचार – उपवास–एकासन आदि योग्य अनुष्ठान सहित ज्ञान की उपासना करना, अमुक तप की धारणा सहित ज्ञान की आराधना करना उपधानाचार है।

७ बहुमानाचार – ज्ञान का अति आदर, ज्ञानदाता गुरु का भी विशेष आदर – बहुमान, और ज्ञान के हेतुभूत शास्त्रादि का भी बहुमान करना बहुमानाचार है।

८. अनिन्हवाचार – जिन देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से स्वय ज्ञान पाया, उन के उपकार को प्रसिद्ध करे, उनके नामादिक को नही छिपाना अनिन्हवाचार है।

इस प्रकार अष्ट प्रकार की आचार-शुद्धि से सम्यग्ज्ञान की आराधना करना।

आत्म ज्ञान विना जीव ने अनन्त काल मे जो कुछ भी पुण्य-पाप किया, वह सब धर्म के लिए निष्फल गया, उसमे सुख बिलकुल नही मिला, मात्र दु ख ही मिला। अत हे जीव ! तू अब तो चेत और उस पुण्य-पाप से पार ज्ञानस्वरूप आत्मा का विचार करके उसकी पहिचान कर। पुण्य-पाप से ससार मिलेगा, आत्मा नही मिलेगा, अत वह सार नही है। इसलिए "लाख बात की बात" मे पुण्य करो – ऐसा नही कहा, किन्तु "निज आतम ध्यावो" – ऐसा कहा, अर्थात् शुभाशुभ राग से पार आत्मा का जो शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप है, उसको निश्चय से अन्तर मे लाकर उसका अनुभव करो। ऐसा अनुभव ही मोक्ष के परम सुख का कारण है। अपना हित तो स्वसन्मुखता से होता है, परसन्मुखता से तो शुभ-अशुभ राग होता है, उसमे हित नही है। इसलिए पर से भिन्नता जान, और पर तरफ के शुभाशुभ की भी रुचि छोडकर, अन्तर के ज्ञान स्वरूप मे लीन होकर उसका ध्यान कर – यही जैनधर्म के सर्व शास्त्रो का सार है, भगवान के कहे हुए चारो अनुयोगो का रहस्य है। ऐसे निश्चय श्रद्धा ज्ञान बिना चारित्र कभी सच्चा नही होता, अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना अन्य लाखो बाते करना असार है, मिथ्या है। लाखो बातो मे सारभूत बात एक यही है कि आत्मा के शुद्धस्वरूप को पुण्य-पाप से पार पहिचानना, और पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक त्यागना। पुनः पुन कहते हैं कि हे जीव ! तू काल गँवाये बिना ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान का उद्यम कर। यदि आत्मज्ञान विना अवसर खो देगा तो पछताने का पार नही रहेगा।

प बुधजनजी ने भी एक छहढाला लिखी है, उसका अनुसरण करके प. दौलतरामजी ने यह छहढाला ग्रन्थ बनाया है। यह छहढाला बहु प्रचलित है, सुगम रचना होने पर भी इसमे गभीर भाव भरे हैं।

इसमे शास्त्रानुसार सूक्ष्म तत्वो का वर्णन किया है। इसमे कहते हैं कि जीव आत्मा को जाने बिना शुक्ललेश्या [शुक्लध्यान नही किन्तु शुक्ललेश्या] करके अनन्त बार नवमी ग्रैवेयक तक गया परन्तु लेश भी सुख नही पाया। यद्यपि ग्रैवेयक मे जाने वाले सभी जीव अज्ञानी नहीं होते, बहुत से तो ज्ञानी होते हैं, परन्तु (अज्ञानी को ससार मे सबसे ऊँचा स्थान नवमी ग्रैवेयक तक ही होता है, उससे ऊँचा स्थान उसे नही मिलता। नवमी ग्रैवेयक मे जाने वाले जीव को बाहर मे नग्न दिगम्बर दशा अवश्य होती है। जिसे पचमहाव्रत का बराबर पालन हो, देव-शास्त्र-गुरु की व्यवहार-श्रद्धा सच्ची हो, शास्त्रज्ञान व्यवहार से सच्चा हो, शुक्ललेश्या हो – ऐसा जीव नवमी ग्रैवेयक मे जाने की पात्रता रखता है।)

अरे! इतना कर-करके भी मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त बार नवमी ग्रैवेयक मे गया [सम्यग्दृष्टि का तो अनन्त बार नवमी ग्रैवेयक मे जाना होता ही नही, उसको तो एक-दो भव मे ससार भ्रमण से छुटकारा हो जाता है,] फिर भी उसे लेशमात्र भी सुख नही मिला। क्यो नही मिला? क्योकि सुख का सच्चा कारण उसके पास नही था। पचमहाव्रत का शुभराग उसके पास था, परन्तु यह सुख का कारण थोडे ही है। उस शुभराग मे आत्मा कहाँ आया? आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान विना सुख कभी नही मिलता। (पचमहाव्रत का शुभ राग भी सुख का कारण नही है, उस राग से पार आत्मा की श्रद्धा ज्ञान-चारित्र ही सुख का कारण है)। पुण्य और पाप ये दोनो तो विभाव हैं, इनका फल ससार ही है। आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र ही आत्मा का स्वभाव है, उससे ही भव का अन्त आता है। शुक्ल-लेश्या भिन्न वस्तु है और शुक्लध्यान भिन्न वस्तु है। शुक्ललेश्या तो अज्ञानी के भी हो सकती है, किन्तु उससे भव का अन्त नही आता, जबकि शुक्लध्यान आत्मा की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान उपरान्त चारित्र दशा मे झूलते हुए मुनिवरो को होता है और उससे भव का अन्त आता है।

इसलिए शुभाशुभ राग से पार चैतन्य स्वरूप आत्मा को पहिचानना ही जैनधर्म के उपदेश का सार है। इसके सिवाय शुभाशुभ राग का फल तो ससार है, उसमे किंचित् भी सुख नही है। राग रहित आत्म स्वभाव का स्वय सवेदन करे, अर्थात् जैसा स्वभाव है वैसा अनुभव मे लेकर श्रद्धा-ज्ञान करे तब मोक्षमार्ग वने, तभी सुख हो और दु ख मिटे, इसके विना लाखो उपाय करने पर भी दु ख मिटकर सुख नही होगा।

ज्ञानस्वरूपी, अवन्ध स्वभावी आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र अवन्ध भावरूप है अर्थात् मोक्ष सुख के कारण हैं। निश्चय-रत्नत्रय मोक्ष के लिए नियम से कर्तव्य है – ऐसा नियमसार की तीसरी गाथा मे कहा है –

जो नियम से कर्तव्य दर्शन-ज्ञान-व्रत यह नियम है।
यह सार पद विपरीत के परिहार हित परिकथित है ॥

इस नियमरूप रत्नत्रय मे राग नही आता, राग का तो उसमें परिहार है, क्योकि राग तो निश्चय-रत्नत्रय से विपरीत है। व्यवहार रत्नत्रय मे जो शुभराग है यह नियम नही है, सारभूत नही है, मोक्ष के लिए कर्तव्य नही है। मोक्ष के लिए तो करने योग्य अपने आत्मा के अनुभवरूप पर से अत्यन्त निरपेक्ष और राग रहित श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, वे ही सारभूत हैं, वे ही स्वानुभूति कहे जाते हैं। भगवान आत्मा स्वानुभूति से प्रसिद्ध होता है – ऐसा समयसार के प्रथम मगल श्लोक मे कहा है। उस स्वानुभुति मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो समा जाते हैं, परन्तु राग उसमे नही समाता। भगवान आत्मा की प्रसिद्धि स्वानुभूति मे होती है, राग मे आत्मा प्रसिद्ध नही होता। अन्तर्मुख उपयोगरूप स्वानुभूति मे भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है, अनुभव में आता है। ऐसी अनुभूति मगल रूप है, मोक्ष का कारण है, अत समयसार के प्रारम्भ मे ही उसको स्मरण करके आचार्य अमृतचन्द्र देव ने मगल किया है।

जैसे मेरु पर्वत की दक्षिण दिशा मे अपना यह भरत क्षेत्र है वैसे ही उसकी पूर्व दिशा मे विदेह क्षेत्र है, वहाँ सीमन्धर तीर्थंकर आदि भगवन्त विचर रहे हैं, इन्द्र और गणधर उनकी वाणी मे आत्मा का स्वरूप सुनते हैं और स्वय उसका अनुभव करते हैं। ऐसे सीमन्धर परमात्मा के पास यहाँ से कुन्दकुन्दाचार्य देव साक्षात् गये थे। वे इस भरत क्षेत्र के महान स्वानुभवी सन्त थे। उन्होने समय-सार आदि परमागम रचे है। इन ग्रन्थो मे अन्तर के चैतन्य के अनुभव को स्पर्श करके आत्मा की अनुभूति का अलौकिक उपदेश किया है, चैतन्य का अपार वैभव समयसार मे स्पष्ट करके दिखाया है। ऐसे ही पूर्वाचार्यों का अनुसरण करके प० दौलतरामजी ने विक्रम सवत १८९१ मे इस छहढाला की रचना की है। उसमे कहते हैं कि अहो जीवो! लाख बात की बात यह है कि तुम निश्चय से आत्मा को पुण्य-पाप से भिन्न जानकर अन्तर मे ध्यावो, पुण्य-पापरूप ससार के द्वन्द-फन्द रहित आत्मा को ध्यावो। पुण्य-पाप से पार अनन्त चैतन्य शक्ति से परिपूर्ण स्वसवेद्य आत्मा है, उसे अन्तर्मुख होकर वेदन मे लो। पुण्य-पाप से वह आत्मा वेदन मे नही आता, अपनी ही उपयोग शक्ति से वह स्वय अपना प्रत्यक्ष स्वसवेदन करता है, और ऐसे स्वसवेदन मे भगवान आत्मा अपने सच्चे स्वरूप मे प्रसिद्ध होता है। इसलिए मुमुक्षु को यही कार्य वास्तव मे करने योग्य है, लाख उपाय से इसी को करना चाहिए।

अरे! मेरे करने योग्य काम तो आत्मा की पहिचान है, परन्तु मैंने वह तो आज तक की नही और राग मे तथा उसके फल मे ही सन्तोष मानकर रुका रहा। परन्तु जहाँ राग से पार चैतन्य की स्वानुभूति मे आत्मा प्रकट हुआ वहाँ चैतन्य का परम सुख वेदन मे आया। ऐसी आनन्दमय स्वानुभूति कैसे हो? कि राग के आश्रय से नही, पर के लक्ष से नही, अपने अन्दर गहरे गहरे जहाँ राग का प्रवेश नही, ऐसे भूतार्थ चैतन्य स्वभाव मे घुसकर आत्मा को स्वानुभूति होती है।

यहाँ (सोनगढ) जैन मदिर मे फागुन सुदी द्वितीया को सीमन्धर भगवान की प्रतिष्ठा हुई थी। कल उसकी वर्ष गाठ का दिवस है, और आज यहाँ आत्मा की स्वानुभूति से चैतन्य प्रभु को अपने मे पधराने की बात है। अन्तर मे आत्मा की पहिचान बिना भगवान की भी सच्ची पहिचान नही होती। पर से भिन्न, राग से पार, अपार गुण सम्पन्न आत्मा की श्रद्धा करना ही मोक्ष महल की प्रथम सीढी है। जिसने ऐसी श्रद्धा की, उसने अनन्त भगवन्तो को अपने अन्तर मे स्थापित करके मोक्ष सन्मुख मगल प्रयाण किया। सम्यक् दर्शन मे सिद्ध जैसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, उसके बिना ज्ञान-चारित्र आदि सच्चे नही होते। शास्त्र का पढना या शुभराग का आचरण आदि सब सम्यग्दर्शन के बिना निरर्थक हैं, सम्यग्दर्शन बिना वे सब मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है अर्थात् ससार के ही कारण है, मोक्ष के कारण नही है। इसलिए कहते है कि हे भाई! तू ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को तथा सम्यग्ज्ञान को उद्यम से धारण कर। इस अवसर मे लाख–करोड उपाय बनाकर भी, बाहर की अन्य सभी बातो को छोडकर, अन्तर मे अपनी आत्मा की दरकार करके, सच्ची श्रद्धा-ज्ञान उत्पन्न कर तो तुझे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होगी।

अधिक क्या कहे! लाखो बातो का सार इतना ही है कि हे सुज्ञ पुरुषो! अनन्त काल तो सम्यग्दर्शन बिना बीत गया, किन्तु जो हुआ सो हुआ, अब इस अवसर मे सम्यग्दर्शन बिना अल्पकाल भी मत गँवाना। वीर प्रभु के जिन शासन मे ऐसा अवसर पाकर अब तो सम्यग्दर्शन प्रकट करो। शीघ्र चेत जाओ, दुनिया को प्रसन्न करने के लिए समय मत बरबाद करो। अपनी आत्मा क्या है उस तरफ लक्ष करके उसकी आराधना करो, उसका सम्यक् अनुभव करो। सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति का यह अवसर है, उसी उत्तम रत्न से मोक्ष प्राप्त होगा। अनन्त काल तो दुःख मे गया। "गई सो गई" परन्तु अब तो सम्यग्दर्शन करके आत्मा के सुख का अनुभव करो। अनन्त

जीव ऐसा अनुभव करके मोक्ष गए हैं, तुम भी आत्मानुभव करके मोक्ष प्राप्त करो।

शरीर और कर्म की तो कथा ही क्या ? वे तो अजीव हैं, परद्रव्य है, जीव से भिन्न है, शुभाशुभराग भी चैतन्य स्वभाव से पार है, भिन्न है, और अल्प विकास वाली अधूरी पर्याय जितना सम्पूर्ण आत्मा नही है। आत्मा तो पूर्ण स्वभाव से भरा है, उसमे से ही केवलज्ञानादि प्रकट होते हैं, वही उसका पूरा कार्य है। इसलिए पर की, विकार की और अल्प पर्याय के भेद की दृष्टि छोडकर, पूर्ण स्वभाव से भरे हुए भगवान के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, वही आनन्द रूप है, वही मोक्षमार्ग है। पूर्णानन्दी प्रभु भगवान आत्मा स्वय विराज रहा है, उसको भजते ही वह मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रदान करता है। अनन्त जीव अपने अन्तर मे उसको ही भज-भजकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए और जो प्राप्त होगें वे भी उसकी ही सन्मुखता से पावेंगे। सम्यग्दर्शन के लिए तीन काल का नियम है और सभी जीवो पर लागू पडता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से सम्यग्दर्शन प्राप्त नही होता और सम्यग्दर्शन के विना मोक्ष नही मिलता। अत हे भव्य जीव ! सर्वप्रथम आत्म सन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रकट करो।

अहो ! देखो तो सही ! सन्त कैसे प्रेम से आत्महित के लिए प्रेरित कर रहे है। अरे ! ऐसे आत्मा का प्रेम लाकर जीव ने कभी उसकी बात सुनी नही। सुना तो वास्तव मे तव कहा जाय जवकि अपने मे वैसा भाव प्रकट करके अन्तर मे अनुभव करे। चैतन्य की बात सुनने पर भी जो जीव विषय-कषाय के वेदनरूप भाव मे ही रुका रहे, अर्थात् बन्ध भाव मे ही रुका रहे और अवन्धरूप चैतन्य भाव प्रकट न करे, उसने एकत्व विभक्त आत्मा की बात वास्तव मे सुनी नहीं, उसने तो काम-भोग-बन्ध की विकथा ही सुनी है, उसका ही प्रेम किया है। अनादि काल से जीव ने यही किया है। पर से भिन्न

होकर चैतन्य के एकत्व मे जो आया उसने ही अपूर्व भाव से एकत्व स्वभाव की बात यथार्थ सुनी है, और उसी ने अनुभवी – ज्ञानी की सच्ची सेवा की है। इसके बिना मात्र शुभभाव करने को तो सम्यग्ज्ञानी की सेवा भी नही कहते, उसने "ज्ञान" की सेवा नही की उसने तो राग का ही सेवन किया है। इसलिए कहते है कि पुण्य-पाप से पार चैतन्य तत्व को पहिचानो – यही सबका सार है।

(सम्यग्दर्शन पर्याय मे निमित्त का, राग का या भेद का आश्रय नही है, वह तो एक अखण्ड ज्ञायक तत्व का आश्रय करके उसमे एकता करता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने शुद्धात्मा की प्रतीति कभी नही छोडता, और एक समय भी रागादि अशुद्ध भावरूप से अपने को नही अनुभवता।) ऐसा सम्यग्दर्शन और भेद-ज्ञान जैन धर्म का सार है। इसमे ही वीतरागता होती है। वीतरागता ही शास्त्रो का तात्पर्य है। आत्मा का शुद्धस्वरूप सर्व पर से अत्यन्त भिन्न है, उसमे वीतरागता भरी है, राग का अश भी चैतन्य मे नही है। ऐसे चैतन्य स्वरूप की अनुभूति बिना अनन्त बार बहुत राग कर-करके क्या पाया ? अकेला दु ख पाया, लेश भी सुख नही पाया। इसलिये अब दु ख से परिमुक्त होकर सुखी होने के अर्थ हे जीवो ! तुम जगत के सभी द्वन्द-फन्द छोडकर निजात्मा का ध्यान करो। कब ध्यावे ? नित्य ध्यावो, एक क्षण भी आत्मा को पुण्य-पाप वाला मत ध्यावो। सदा आत्मा को पुण्य-पाप से पार चैतन्य स्वरूप ही ध्यावो, यही मुमुक्षु का कर्त्तव्य है। "शुभराग नित्य करो" ऐसा नही कहा, अपितु राग रहित शुद्धात्मा को "नित्य ध्यावो" ऐसा कहा है। रागरूप से आत्मा को एकक्षण भी मत ध्यावो। चैतन्य और राग एकरूप भासित होना ही ससार का मूल है। पुण्य-पाप का भाव होते समय भी अपने शुद्धात्मा की श्रद्धा-ज्ञान नही छूटते, सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान तो पुण्य-पाप से छूटे ही हैं। आत्मा के ध्यान से ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान प्रकट करके, धर्मी उनको नित्य ध्याता है। यही श्रावको का प्रथम कर्तव्य है। श्रावक को, धर्मी गृहस्थ को भी श्रद्धा-ज्ञान मे

ध्येयपने निरन्तर अपना शुद्धात्मा वर्तता है। शुद्धात्मा का ऐसा धर्मध्यान गृहस्थ को भी होता है।

जगत के द्वन्द-फन्द को तोडने के लिए कहा, और पुण्य-पाप के फल मे हर्ष-शोक छोडने के लिए कहा, तो जगत के उस द्वन्द-फन्द को कौन छोडे? कि पुण्य-पाप से पार चैतन्य मात्र मैं हूँ – ऐसा जिसने अन्तर मे जाना हो, वही अपने आत्मा को ध्याकर ससार के फन्दे से छूट जाता है। जिसको पुण्य के फल मे मिठास लगे, शुभराग मे रस लगे, वह जीव ससार के फन्दे को नही तोड सकता।

(भगवान! तेरे आत्मा मे ही सिद्ध भगवान बैठा है, केवलज्ञान तेरे आत्मा मे बैठा है, किसी दूसरे के पास से तुझे क्या लेना है? चैतन्य तत्व का आश्रय करने पर तू स्वय सादि-अनन्त काल तक केवलज्ञान और सिद्ध दशारूप परिणमन करे – ऐसा ही तेरा अचिन्त्य स्वभाव है)। अब तुझे राग के पास से या किसी अन्य के पास से क्या लेना? अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त सम्यक्त्व – ऐसा सामर्थ्य तेरे गुण मे ही है, ऐसे अनन्त गुणो का पिड तू महान चैतन्य वस्तु है। तुझमे राग का अश भी नही है। अन्तर्मुख होकर ऐसे परम महिमावन्त आत्मवस्तु को श्रद्धा-ज्ञान मे लेना ही भव से पार होने का उपाय है।

पुण्य-पाप का आलम्वक ज्ञान मोक्ष का कारण नही, चैतन्य स्वभावरूप सत्ता का अवलम्बन लेने वाला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। पुण्य-पाप तो ससार का फन्द है, उसे तो चैतन्य के ध्यान से तोडना है। चैतन्य स्वरूप आत्मा को जाना तब रागादि के फन्द से ज्ञान छूटा कि "यह पुण्य-पाप मैं नही"। (स्वपूर्वक-पर का ज्ञान) ही प्रमाण ज्ञान है, ऐसे भेद-ज्ञान से सम्यग्ज्ञान का आराधन करो। सम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सम्यग्ज्ञान होता है, उसको सम्यग्दर्शन के बाद भी ठेठ केवलज्ञान तक आराधो। पुण्य-पाप से सदा भिन्न ज्ञान की आराधना करो। वह तो मोक्षमार्ग है और वही द्वादशाग का सार है। वही सच्चे सुख का एक मात्र उपाय है।

सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र का उपदेश

सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक ही चारित्राराधना होती है। इसीलिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् अब चारित्र का वर्णन करेंगे। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे भी कहा है –

न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वक लभते।
ज्ञानान्तरमुक्त चारित्राराधनं तस्मात् ॥

अज्ञान पूर्वक होने वाले चारित्र को सच्चा चारित्र नही कहते इसलिए चारित्र की आराधना सम्यग्ज्ञान के बाद ही कही गई है।

चारित्र के मुख्य दो भेद कहे हैं – देश चारित्र और सकल चारित्र। पाँचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक को देश चारित्र होता है, तथा छठवे-सातवे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को सकल चारित्र होता है। सकल चारित्र का वर्णन छठवी ढाल मे करेंगे। यहाँ १० वें से १३वे छन्द तक देश चारित्र का वर्णन करते है।

सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित्र लीजे।
एकदेश अरु सकल देश तसु भेद कहीजे ॥
त्रसहिंसा को त्याग वृथा थावर न संहारे।
परवधकार कठोर निंद्य नहिं वयन उचारै ॥१०॥

जल-मृतिका बिन और नाहिं कछु गहै अदत्ता।
निज बनिता बिन सकल नारिसो रहै विरत्ता ॥
अपनी शक्ति विचार परिग्रह थोरो राखै।
दशदिश गमन प्रमान ठान तसु सीम न नाखै ॥११॥

ताहू मे फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमाण ठान अन सकल निवारा ॥

काहू की धन हानि किसी जय-हार न चिंते ।
देय न सो उपदेश होय अघ वनिज कृषी तैं ।।१२।।

कर प्रमाद जल भूमि वृक्ष पावक न विराधै ।
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै ।।
राग-द्वेष करतार कथा कबहूँ न सुनीजै ।
और हु अनरथ दण्ड हेतु अघ तिन्है न कीजै ।।१३।।

श्रावक के निम्नानुसार कुल १२ व्रत हैं –

पाँच अणुव्रत – अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण व्रत ।

तीन गुणव्रत – दिग्व्रत, देशावकाशिक व्रत, अनर्थदण्ड परित्याग व्रत ।

चार शिक्षाव्रत – सामायिक, प्रोषध, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि सविभागरूप वैयावृत ।

इन बारह व्रतो मे से पाँच अणुव्रतो और तीन गुणव्रतो का वर्णन इन चार छन्दो मे है । चार शिक्षाव्रतो का वर्णन बाद मे करेंगे ।

ये व्रत श्रावक को पाँचवे गुणस्थान मे होते हैं अर्थात् सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही होते है । ज्ञान के विना व्रत सच्चे नही होते, अत विशेषरूप से कहा कि "सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ चारित लीजे" सम्यग्ज्ञान उपरान्त जहाँ ऐसी वीतरागता हुई कि अप्रत्याख्यान सम्बन्धी क्रोधादि कोई कषाय भी नही होती और शेष कषाये भी मन्द है, मर्यादित हैं जिसके अन्दर की वीतरागी शान्ति विशेष बढ गई है – ऐसी दशा वाले श्रावक को पाँचवाँ गुणस्थान होता है और उसको अहिंसा व्रत होते हैं, उसका यह वर्णन है ।

अरे ! श्रावकपना किसे कहा जाय ? सर्वार्थसिद्धि के देवो की अपेक्षा भी जिसकी शान्ति अधिक है । ऐसी दशा अन्तर मे आत्मा

के अनुभव विना नही हो सकती। अत हे जीवो! प्रथम आत्मा का सम्यग्ज्ञान करके फिर चारित्र दशा का आराधन करो। मुनिपना हो सके तो मुनिपना प्रगट करो, यदि अभी मुनिपना न हो सके तो श्रावक के चारित्र का आचरण करो – देशव्रत का पालन करो।

मोक्षमार्ग मे अर्थात् अरहन्त भगवान के मार्ग मे जो चारित्र है वह सम्यग्ज्ञान सहित ही होता है। समन्तभद्र स्वामी ने रत्न-करण्ड श्रावकाचार की ४९ वी गाथा मे "सज्ञस्य चारित्रम्" अर्थात् सम्यग्ज्ञानी का चारित्र ऐसा कहकर सम्यग्ज्ञानपूर्वक हिंसादि से विरति को चारित्र कहा है। अज्ञानी के व्रतादि आचरण को चारित्र नही कहा है।

पुरुपार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ मे सम्यक्चारित्र के प्रकरण मे ही श्री अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं कि कैसे जीव को सम्यक् चारित्र होता है? कि जिसने दर्शन मोह का नाश किया है और सम्यग्ज्ञान से तत्वार्थ को जाना है, तथा जो सदा अकम्प दृढ चित्त वाला है – ऐसे जीव को सम्यक् चारित्र होता है। अज्ञानपूर्वक होने वाले आचरण को सम्यक् चारित्र नही कहते, इसीलिए सम्यग्ज्ञान के वाद ही चारित्र का आराधन कहा है। कषाय के अभावरूप आचरण ही "आत्मरूप" है और वही चारित्र है। शुभराग आत्मा का रूप नही है, राग के अभावरूप वीतरागी चारित्र ही आत्मा का रूप है। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनो को आत्मरूप कहकर उनमे से राग रूप परभावो को निकाल दिया है। ऐसे आत्मस्वरूप की पहिचान के वाद ही श्रावक या मुनि का चारित्र होता है।

रागादि से भिन्न अपना ज्ञानस्वरूप जिसने जाना है – ऐसे जीव का अपने त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव मे चर्या करना ही चारित्र है, उसमे परम वीतरागता के प्रभाव से परम साम्यभाव होता है और उसके साथ वाह्य प्रवृत्ति मे भी हिंसादि के त्यागरूप उज्ज्वल तो होती है। पाँचवें गुणस्थान मे श्रावक को अनन्तानुबधी और अप्रत्याख्यान

क्रोध-मान-माया-लोभ तो होता ही नही है। ऐसी शुद्धि की भूमिका मे स्थूल हिंसादि के पाप परिणाम स्वत नही होते, उसका नाम अहिंसादिव्रत है, और जो राग-द्वेषादि शेष रह गए हैं वे भी मर्यादा मे आ गए हैं। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा तिर्यञ्च गति मे रहने वाले पॉचवे गुणस्थानवर्ती श्रावक के परिणाम बहुत उज्ज्वल होते हैं और सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा वह तिर्यंच विशेष सुखी है।

श्रावक के चारित्र मे बारह व्रत होते है, उनके तीन भाग हे - पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इसके उपरान्त उसको सदैव सल्लेखना की - समाधि मरण की भावना होती है। अहिंसादि पॉच अणुव्रत और दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत का वर्णन इन चार छन्दो मे है। दिग्व्रत, देशावकाशिकव्रत और अनर्थदण्डत्यागव्रत यह तीनो अहिंसादिव्रत की पुष्टि करने वाले हे - गुण करने वाले है - रक्षा करने वाले है अत इन्हे "गुणव्रत" कहा जाता है। तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि सविभागरूप वैयावृत्य - ये चार व्रत मुनिपने के अभ्यासरूप हे, मुनिपने की शिक्षा देने वाले है इसलिए इन्हे "शिक्षाव्रत" कहा जाता है।

१. अहिंसा-अणुव्रत - आत्मानुभव उपरान्त अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायो का भी अभाव होने से जिसकी आत्मा की शान्ति विशेष बढ गई है, ऐसे पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को सकल्प पूर्वक होने वाली त्रसहिंसा का परिणाम नही होता। जिसमे सीधी त्रसहिंसा होती हो ऐसी प्रवृत्ति मे वह नही पडता, त्रसहिंसा वाला भोजन वह नही खाता।

यद्यपि सामान्य गृहस्थ अथवा सज्जन आर्य मनुष्य को भी त्रसहिंसा के पाप परिणाम नही होते, परन्तु इस व्रती श्रावक को तो उसका नियम पूर्वक त्याग होता है। इसी तरह वह स्थावर जीवो की भी बिना प्रयोजन हिंसा नही करता, उनकी हिंसा से भी यथाशक्ति बचने की सावधानी रखता है। विरोधी हिंसा अर्थात्

किसी दुष्ट जीव द्वारा या शत्रु द्वारा धर्म के ऊपर, राष्ट्र के ऊपर अथवा स्त्री-पुत्रादि के ऊपर आक्रमण हो तो ऐसे प्रसगो पर स्व-रक्षा के अर्थ, धर्मरक्षा के अर्थ, विवश होकर सामने वाले जीव को मारने का प्रसग आ पडे तो ऐसी हिसा का त्याग इस श्रावक को नही होता। उसमे भी सामने वाले की हिसा का अभिप्राय उसको नही होता – मात्र स्व-रक्षा का ही अभिप्राय होता है। ऐसी हिसा के परिणाम के समय भी अनन्तनुवधी या अप्रत्याख्यान सवधी राग-द्वेष उसको नही होते अर्थात् दो कषाय के अभावरूप वीतरागी शुद्धता उसे सदा बनी रहती है, और इतनी शुद्धता रखते हुए जो हिंसादि परिणाम होते है वे अति अल्प होते है, स्थूलहिसादि क परिणाम तो उसको होते ही नही – ऐसी दशा का नाम अहिसा-अणुव्रत है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट करके धर्मी जीव को ऐसे अहिंसाव्रत का पालन योग्य है।

श्रावक को "विरोधी हिंसा" होती है, उसका अर्थ यह नही है कि वह हिसा करने जैसी है। श्रावक तो उसे भी छोडने योग्य मानता है, परन्तु अभी उस कषाय के अभाव योग्य शुद्धि नही प्रकटी इसलिए वैसे परिणाम आ जाते है – इन्हे भी छोडकर सम्पूर्ण अहिंसा रूप मुनिदशा कब हो – ऐसी भावना श्रावक को होती है।

२. सत्य अणुव्रत :- वस्तु का स्वरूप जिस प्रकार सत् है उसी प्रकार बराबर जाने तभी सत्यव्रत हो सकता है। इस आत्मा को ईश्वर ने बनाया है, अथवा आत्मा सर्वथा क्षणिक है – ऐसे असत्य मानने वाले को सत्यव्रत नही होता। सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सत्यव्रत होता है। अनन्तानुबधी की चार और अप्रत्याख्यान की चार, इस प्रकार आठ कषायो का अभाव होकर जब विशेष शान्ति प्रकट हुई, तब श्रावक को स्थूल असत्य के परिणाम नही होते, उसका नाम सत्याणुव्रत है। जिससे दूसरे को दु ख हो, प्राणो का घात हो – ऐसे वचन वह नही बोलता। ऐसा सत्य भी नही बोलता जिससे दूसरे की हिंसा हो।

३. अचौर्य-अणुव्रत :- सम्यग्दृष्टि श्रावक ज्ञानानन्द स्वरूप स्व-द्रव्य के अलावा किसी भी पर द्रव्य को अपना नही मानता, तथा दिये विना पर की वस्तु के ग्रहण करने के भाव उसके नही होते। अचौर्य अणुव्रत धारी श्रावक मार्ग मे पडी दूसरे की वस्तु को नही उठाता।

४. ब्रह्मचर्य-अणुव्रत:-ब्रह्मस्वरूप आत्मा के सुख का अनुभव जिसको बढ गया है ऐसा श्रावक अपनी विवाहित स्त्री के अतिरिक्त जगत की समस्त स्त्रियो से विरक्त होता है, उनके साथ अब्रह्म का विकल्प भी उसे नही आता। अपनी स्त्री मे भी तीव्रासक्ति नही होती तथा भोगो मे सुख तो वह मानता ही नही - ऐसा चौथा अणुव्रत है। पाँचवे गुणस्थान से पहले भी अभ्यास रूप से ब्रह्मचर्यादि का पालन होता है, परन्तु व्रतधारी श्रावक को तो ये नियमरूप होते है। वह मन-वचन-कार्य से उसमे दोष नही लगने देता। इस अणुव्रत को "स्वदार-सन्तोषव्रत" भी कहते हैं।

५. परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत:- ज्ञानी ने श्रद्धा-ज्ञान मे तो समस्त परद्रव्य से अपनी आत्मा की भिन्नता जानी है, उसके बाद शुद्धता बढने पर राग के त्याग से धन-धान्य-वस्त्र-सोना आदि वस्तुओ के परिग्रह की मर्यादा हो जाती है, उसका नाम परिग्रह परिमाण है। इस व्रत का धारक श्रावक अपनी भूमिका तथा अपनी सामर्थ्य विचार कर जीवन भर अमुक परिग्रह की ही मर्यादा करता है, उससे अधिक की वृत्ति ही उसके नही होती अर्थात् अन्य सबके प्रति अत्यन्त निस्पृहभाव हो जाता है।

इस प्रकार अहिंसादि पाँच अणुव्रत कहे। श्रावक को दो कषाय के अभावरूप शुद्धता होने पर ये पाँचो अणुव्रत्त एक साथ होते है। इन व्रतो को पुष्ट करने वाली प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओ का वर्णन मोक्षशास्त्र की टीका मे विस्तार से है। भगवान

के मार्ग मे प्रत्येक प्रकार के सूक्ष्म परिणामो का वर्णन किया है, ऐसा वर्णन अन्यत्र कही नही है। सर्वज्ञदेव ने जहाँ-जहाँ त्रस जीव कहे है, अण्डा वगैरह मे पचन्द्रिय जीव कहा है, अनछने पानी मे क्षण-क्षण त्रस जीवो की उत्पत्ति कही है – उन सबको जानकर ही त्रस जीवो की हिंसा से बचा जा सकता है, अर्थात् अहिंसा आदि का सूक्ष्म स्वरूप अरहन्तदेव के मार्ग मे ही है। अरहन्तदेव के मार्ग की जिसे खबर नही उसे अहिंसादि का सच्चा पालन भी नही हो सकता इसलिए वास्तव मे सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सच्चा चारित्र होता है। ज्ञान बिना व्रतादि को "बालव्रत" कहते है।

जीवो का जीवन-मरण तो उनके आयु कर्म के आधीन है, परन्तु व्रती जीव को कषाय का अभाव होने से वैसे हिंसादि का आरम्भ-परिणाम नही होता। किसी आरम्भ मे एक भी त्रस जीव मरता दिखाई पडे तो व्रतधारी श्रावक वैसा आरम्भ नही करता। कीडी मात्र के मारने से विपुल धन मिलता हो तो भी, जीवन के लोभ से भी, धर्मी जीव वैसी त्रसहिंसा का सकल्प नही करता। मैं इसे मारू – ऐसा विकल्प भी उसके मन मे नही आता, तब वह अहिंसाव्रती कहा जाता है।

कोई जीव [बछडा इत्यादि] अति दु ख से पीडित हो वहाँ उसे दु ख से शीघ्र छुडाने के लिए गोली आदि से मार देने का विचार करना भी त्रसहिंसा ही है, ऐसे परिणाम धर्मी के नही होते। मात्र शरीर छूट जाने से कोई दु ख मुक्त नही हो जाता, क्योकि यह जीव कही शरीर जितना ही नही है, यह शरीर छोडकर दूसरे भव मे वह अपने पाप-पुण्यानुसार दु ख-सुख भोगता है। इसलिए उसको मारने का विचार आर्य जीव को नही होता।

इसी प्रकार सर्पादिक हिंसक जीव जीवित रहेंगे, तो दूसरे बहुत से जीवो को मारते रहेंगे, अत उन सर्पादिक को मार देना

उचित है – ऐसा विचार भी तत्व से विरुद्ध है। धर्मी को ऐसा विचार नही होता। कोई सिहादिक हमला करे वहाँ रक्षा के लिए उसका प्रतिकार करना दूसरी वात है, यद्यपि वह भी हिंसा तो है ही परन्तु किसी जीव को मार डालने की वुद्धि धर्मी जीव को नही होती त्रस जीव की हिसा से उत्पन्न औपधादिक का प्रयोग धर्मी जीव प्राण जाने पर भी नही करता। त्रस हिसा करनी पडे ऐसी विद्या [वास्तव मे कुविद्या] वह नही पढता।

वाह्य क्रिया सम्वन्धी कितने प्रकारो का वर्णन करे ? अन्दर मे कषाय की उत्पत्ति ही न हो, उसका नाम अहिसा हैं, और जहाँ कषाय नही वहाँ जीवहिसा की प्रवृत्ति भी नही होती। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मे अमृतचन्द्रदेव ने जिनागम का महान सिद्धात वताते हुए लिखा है –

अप्रादुर्भाव· खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेव उत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ।।४४।।

आत्मा मे रागादिभाव की उत्पत्ति न होना अर्थात् वीतराग भाव होना वास्तव मे अहिसा है, और रागादिभावो की उत्पत्ति होना हिसा है – यह जिनागम का सार है।

वाहर मे कदाचित् दूसरे जीवो की हिंसा न हो तो भी इस जीव को जितने अश मे राग हुआ उतनी तो हिसा ही है, क्योकि रागादि कषाय से उसने प्रथम अपनी आत्मा की हिसा तो कर ही ली। और रागादि की उत्पत्ति न होना, वही अहिसा है। जिनागम मे कथित इस अहिसा तथा हिसा के महासिद्धात को लक्ष मे रखकर ही समस्त जिनागम का अर्थ समझना चाहिए। भगवान के आगम मे राग को हिसा ही कहा है फिर वह राग चाहे जिस जाति का हो, शुभ हो अथवा अशुभ, परन्तु है वह हिसा ही, और जब उसको हिसा कहा तो फिर उस हिसा मे धर्म नही हो सकता।

चैतन्य मे लीनता होने पर ऐसा आनन्द होता है कि राग की उत्पत्ति ही नही होता – ऐसी धर्मी जीव की अहिंसा है, और ऐसी वीतरागी अहिंसा ही परम धर्म है। परमधर्म रूप ऐसी अहिंसा वीतरागी-जिनमार्ग मे ही होती है। राग मे धर्म मानने वाले को अहिंसाधर्म कभी नही हो सकता।

जैनशासन मे जिनवरदेव ने मोक्ष के कारण रूप अहिंसाधर्म का सच्चा स्वरूप अलौकिक रीति से समझाया है, उसका सुन्दर वर्णन "अहिंसा परमोधर्म" नामक पुस्तिका मे है। तत्व जिज्ञासुओ को विशेष उपयोगी होने से उसे यहाँ दिया जा रहा है।

"अहिंसा परमोधर्म" अर्थात् भगवान महावीर का इष्ट उपदेश।

अहिंसा धर्म सारे जगत को प्रिय है, परन्तु उसका सच्चा स्वरूप समझने वाला तो जगत मे कोई विरला ही है। उस अहिंसा का सच्चा स्वरूप समझे बिना उसका पालन नही हो सकता, इसलिए अहिंसा प्रेमियो को उसका सच्चा स्वरूप समझ लेना चाहिए। भगवान महावीर के शासन मे परम अहिंसाधर्म का सत्य स्वरून समझाया है।

सर्व प्रथम अहिंसा का अर्थ समझना आवश्यक है।

महावीर प्रभु के शासन मे परम अहिंसाधर्म उसको कहा है कि जिसके सेवन से अवश्य ही मोक्ष प्राप्ति हो और आत्मा के स्वरूप का घात न हो, तथा हिंसा उसे कहते है कि जिससे आत्मा का का स्वभाव घाता जाय और ससार मे भव करना पडे [वह भव सुगति हो अथवा दुर्गति हो] इस तरह अहिंसा तो मोक्ष का कारण है और हिंसा ससार का कारण है क्योकि अहिंसा वीतरागभावरूप है, हिंसा राग रूप है।

ससार मे गतियो के मुख्य दो प्रकार हैं।

हिंसा के भी दो प्रकार हैं – (१) शुभभाव जनित अर्थात् प्रशस्त कषायरूप हिंसा जो कि स्वर्गादि का कारण है। (२) अशुभभाव जनित अर्थात् अप्रशस्त कषायरूप हिंसा जो कि नरकादि दुर्गति का कारण है।

इस प्रकार जीव के अकषाय और सकषाय [वीतराग या रागादि] परिणाम के साथ अहिंसा और हिंसा का सबध है, किन्तु परजीव के जीवन या मरण के साथ इस जीव की अहिंसा या हिसा का सम्बन्ध नही है। परजीव का जीवन या मरण उसकी आयु के अनुसार होता है, परन्तु जिस जीव को अकषायरूप वीतराग भाव है वह अहिंसक है, और जिस जीव को सकषायरूप रागादि भाव है वह हिंसक है। यह भगवान वीरनाथ द्वारा कथित अहिसा-हिंसा का महान सिद्धात है। रागादि रूप हिंसा वह अधर्म है, और वीतराग भावरूप अहिसा परम धर्म है। अहिंसाधर्म का ऐसा उपदेश सर्व जीवो के लिए हितकारी होने से यही "इष्ट-उपदेश" है, यही भगवान महावीर का उपदेश है।

वीतरागभावरूप अहिंसा इष्ट फल वाली है, और मोक्ष इष्ट है। रागादिभावरूप हिसा अनिष्ट फल वाली है, और ससार अनिष्ट है।

ऐसी अहिंसा तथा हिंसा का स्वरूप अधिक स्पष्ट रीति से समझने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है –

एक जगल मे चालीस लुटेरे रहते थे। वे क्रूरपरिणामी और मासाहारी थे। वे जगल मे शिकार की तलाश मे घूमते रहते थे। इतने मे ही एक धर्मात्मा मुनि उस जगल मे आए। उन आत्मज्ञानी और वीतरागभाव मे मस्त सन्त को उन दुष्टो ने देख लिया। वे लुटेरे उस सन्त को मारकर उसका मास खाने के भाव से उनके पीछे पड गए। वे धर्मात्मा सन्त तो उपसर्ग समझकर शान्ति से ध्यान मे

विराज गए। लुटेरे उनको पकडकर मारने की तैयारी मे ही थे किन्तु इतने मे एक राजा उधर से निकला। राजा सज्जन और वीर था। मुनि और लुटेरो को देखकर वह सारी परिस्थिति समझ गया। दुष्ट लुटेरो के पजे से मुनि की रक्षा करने के लिए उसने लुटेरो को वहुत समझाया कि इन निर्दोष धर्मात्मा को हैरान मत करो, परन्तु वे मास लोभी दुष्ट लुटेरे किसी भी प्रकार नही माने और मुनि को मारने लगे। तब राजा से नही रहा गया और उसने मुनि रक्षा के लिए लुटेरो का सामना किया। वे चालीस लुटेरे भी एक साथ राजा पर टूट पडे, परन्तु बहादुर राजा ने अपने अतुल पराक्रम से सभी लुटेरो को मारकर मुनि की रक्षा की। लुटेरे न तो मुनि को ही मार सके और न उस राजा को ही मार सके।

अब हमे यहाँ दो बातो पर विचार करना है -

[१] राजा द्वारा तो चालीस लुटेरो की हत्या की गई।

[२] लुटेरो के द्वारा एक भी मनुष्य की हिसा नही हुई।

तो अब उन दो मे से अधिक हिंसक किसे माना जाए? राजा को या लुटेरो को? तथा मुनिराज को हिसा हुई या अहिंसा?

निश्चित ही आप लुटेरो को ही हिसक कहेगे और राजा को हिसक न कहकर उसकी प्रशसा ही करेगे। तथा मुनिराज के लिए तो यही कहेगे कि वे न हिंसक थे न अहिंसक।

चालीस मनुष्य मारे गए तथापि उस राजा को अल्प हिसक भी नही माना जाता, और कोई मनुष्य न मरने पर भी उन लुटेरो को हिसक माना गया, क्या यह ठीक है? गहराई से विचार करने पर इन प्रश्नो का सही उत्तर इस प्रकार होगा।

लुटेरे तीव्र हिंसक थे, राजा अल्प हिसक था और मुनिराज अहिंसक थे। क्योकि बहुत जीव मरे इसलिए वहुत हिंसा, और अल्प

जीव मरे इसलिए अल्प हिंसा — ऐसा नियम नही है, यदि ऐसा होता तो राजा ही बडा हिंसक ठहरता, किन्तु ऐसा नही है। तब फिर कैसा है ? जहाँ बहुत कषाय वहाँ बहुत हिंसा जहाँ अल्पकषाय वहाँ अल्प हिंसा, और जहाँ अकषायरूप वीतरागभाव वहाँ अहिंसा — ऐसा सिद्धान्त है।

लुटेरो ने मुनि को मारने के भाव रूप तीव्र कपाय भाव किया इसलिए उन्हे बहुत हिंसा हुई। राजा ने अल्प कषाय की इसलिए उसे अल्प हिंसा हुई। यद्यपि उसको मुनि को बचाने का शुभभाव था, परन्तु उसने जितनी कषाय की उतनी तो हिंसा ही हुई, क्योकि कपाय स्वय हिंसा है।

जिसने राग-द्वेष नही किया ऐसे मुनिराज परम अहिंसक थे, क्योकि वीतरागभाव ही अहिसा है, और रागादिभाव ही हिंसा है।

हिंसा-अहिसा के सम्बन्ध मे अबाधित नियम पहले ही पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय के श्लोक ४४ द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है। उसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है —

(जहाँ कषाय सहित योग से द्रव्य-भावरूप प्राणो का घात है वहाँ निश्चित हिंसा है)

जिस सत्यपुरुष को योग्य आचरण है और रागादि कषाय का अभाव है, उसको मात्र प्राणघात से कभी हिंसा नही होती।

जहाँ रागादि कषायवश प्रमादवृत्ति है, वहाँ जीव मरें या न मरे तथापि हिंसा निश्चित है। क्योकि सकषाय जीव कषाय से प्रथम स्वय अपने आत्मा के चैतन्य प्राण का हनन तो करता ही है चाहे अन्य जीव की हिंसा हो या न हो।

पर-वस्तु के कारण जीव को सूक्ष्म भी हिंसा नही होती अपने कषायभाव से ही हिंसा होती है।

हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी यह वस्तु स्वरूप है और यही जैनागम का सक्षिप्त रहस्य है। इस सम्बन्ध मे कुन्दकुन्दाचार्य देव समयसार के वन्ध अधिकार मे कहते है –

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बन्धसमासो जीवाण णिच्छयणयस्स ।।२६२।।

मारो न मारो जीव को है बन्ध अध्यवसान से ।
यह आतमा के बन्ध का संक्षेप निश्चयनय विषै ।।

(परजीवो का जीवन या मरण तो उनके कर्म के उदयानुसार होओ या न होओ, परन्तु उनको मारने का या जिलाने का जो अध्यवसाय है वही निश्चय से जीव को वन्ध का कारण है)।

हिंसा-अहिंसा का ऐसा सूक्ष्म स्वरूप मात्र जैनशासन मे ही है, क्योकि जीव के चैतन्य प्राणो से रागादि का भिन्नपना जैनशासन मे ही बताया है। अन्य मिथ्यामार्गी जीव हिंसा-अहिंसा का सच्चा स्वरूप नही पहिचान सकते क्योकि जीव के चैतन्य प्राण की और राग की भिन्नता वे नही जानते ।

इस महत्वपूर्ण विषय को समझने के लिए पाण्डवो का उदाहरण भी दिया जा रहा है –

युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन पाँचो पाण्डवो ने जब दग्ध हुई श्रीकृष्ण की द्वारका नगरी को देखा, तो ससार की क्षण भगुरता देखकर उनका चित्त उदास हो गया और वे सब नेमिनाथ प्रभु के समवशरण मे आये, प्रभु के श्रीमुख से धर्मोपदेश सुनकर वे ससार से विरक्त हो गए, और मुनि दशा प्रकट करके आत्मध्यान पूर्वक देशोदेश विचरने लगे। विचरते विचरते वे सोनगढ के पास स्थित शत्रुजयगिरि सिद्धक्षेत्र पर पधारे। अनेक भक्तजनो ने अत्यन्त हर्ष पूर्वक पाण्डव मुनिभगवन्तो के दर्शन किए, परन्तु दुर्योधन के

भानजे के मन मे पाण्डवो को देखकर ऐसा दुष्ट विचार आया कि इन पाण्डवो ने मेरे मामा का नाश किया है इसलिए अब मैं इनसे उनका बदला लूगा, क्योकि इस मुनिदशा मे वे उसका कोई प्रतिकार नही करेगे। ऐसे दुष्ट विचार पूर्वक उसने लोहे के गर्म धधकते आभूपण पाण्डवो के शरीर मे पहनाए और उनको जीवित ही जला देने का घोर उपसर्ग किया। माथे पर गर्म लोहे का मुकुट पहनाया जिससे माथा सुलगने लगा। हाथ-पैर आदि के आभूषणो से भी वे सब सुलगने लगे।

उक्त उपसर्ग के समय युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो चिदानन्द तत्व की शान्त अनुभूति मे ऐसे लीन हो गए कि उपसर्ग के ऊपर लक्ष भी नही गया। धधकती हुई अग्नि मे भी चैतन्य के शान्तरस मे ऐसे ठहर गए कि उसी समय क्षपक श्रेणी मॉडकर, सम्पूर्ण वीतरागी होकर, केवलज्ञान प्राप्त किया, और तत्क्षण मोक्ष पा लिया। उनके चित्त मे राग की उत्पत्ति ही नही हुई, इसलिए वे परम अहिंसक रहे, उनके चैतन्यभाव की हानि नही हुई।

दूसरी तरफ नकुल और सहदेव दोनो भ्राताओ ने यद्यपि शान्ति से उपसर्ग सहन किया, शत्रु के ऊपर क्रोध नही किया, परन्तु उनको इतनी वृत्ति उठी कि इस उपसर्ग मे हमारे ज्येष्ठ भ्राताओ का क्या होता होगा? इस प्रकार सज्वलनरूप बन्ध-मोह शेष रह गया अर्थात् इतने राग की उत्पत्ति हुई और वे दोनो वीतरागरूप से नही रह सके, केवलज्ञान नही पा सके, और इस विकल्प से होने वाली चैतन्यभाव की सूक्ष्म हिसा के कारण उन्हे ससार मे सर्वार्थसिद्धि का भव प्राप्त हुआ। मोक्ष से वचित रहे और भव ही हुआ। हॉ, उन्होने विशेष उद्वेग नही किया तथा पाण्डवो को बचाने की भी चेष्टा नही की, इतनी वीतरागता उनके वर्तती थी और वह अहिसा थी।

तीसरा कोई जीव ऐसा था कि जिसने इस उपसर्ग को देखकर उपसर्ग करने वाले के ऊपर तीव्र क्रोध किया और पाण्डवो को जलते

देखकर विशेष उद्वेग किया तथा भक्तिवश उनको बचाने की चेष्टा की।

इस जीव ने किसी जीव की हिंसा तो नही की तथापि जितना क्रोधभाव किया उतने अश मे चैतन्यभाव की हिसा की, अर्थात् ऊपर के दो नम्बर वाले जीवो की अपेक्षा इस जीव को बहुत हिंसा हुई इसके परिणाम शुभ होने पर भी हम इसे अहिसक नही कहते, क्योकि अहिंसा तो अपने वीतरागभाव को ही स्वीकारती है। अर्थात् पर जीवो को बचाने के उद्वेग परिणाम वाला जीव पूर्ण अहिंसक नही है। स्वरूप मे स्थिर वीतराग परिणाम वाला जीव ही पूर्ण अहिसक है।

चौथा जीव कि जिसने मुनि को मार डालने के क्रूर परिणाम किए थे, उसकी तो क्या कहे ? वह तो तीव्र हिंसक ही था।

इस प्रकार जीव के सराग-वीतराग परिणामो के अनुसार हिसा-अहिंसा है, और उसमे भी जो मिथ्यात्व है वह सबसे बडी हिंसा है।

जैन सिद्धान्तानुसार हिसा-अहिंसा का ऐसा सत्यस्वरूप जो नही जानता, वह वीतरागभावरूप अहिंसाधर्म को नही पहचानता, तथा शुभ राग को अहिंसाधर्म मानता है, जबकि उससे भी चैतन्य प्राण का घात होता है। इस प्रकार हिंसा को ही अहिंसा मान लेने के कारण उस जीव को मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व मे महानतम हिंसा का सेवन है। जिसने हिंसा को ही अहिंसा मान लिया, राग को ही वीतरागता मान लिया, उस जैसा महान पाप अन्यत्र कहाँ हैं ?

इसलिए जिसको सच्चा अहिंसक बनना हो उसे किसी भी राग को परमधर्म अहिंसा नही मानना चाहिए। और जितना राग उतनी हिंसा – ऐसा समझकर उस हिंसा को छोडना चाहिए। और

जितनी वीतरागता उतनी अहिंसा – ऐसा समझकर उसको आदर पूर्वक अंगीकार करना चाहिए। ऐसी वीतरागी अहिंसा के द्वारा ही भवसमुद्र से पार हुआ जा सकता है।

अहिंसा का स्वरूप समझने के लिए निम्न दृष्टान्त भी उपयोगी है –

एक जंगल की रमणीय गुफा में एक भद्र परिणामी सूकर रहता था। उसी जंगल में एक क्रूर परिणामी सिंह भी रहता था। एक वीतरागी मुनिराज विहार करते-करते उस जंगल में आए, और जिस गुफा में में सूकर रहता था उसी गुफा में विराजमान होकर शुद्धोपयोग से आत्मध्यान करने लगे।

मुनिराज को गुफा में देखकर भद्रपरिणामी सूकर ने ऐसा शुभ विचार किया कि अहो! ये कोई वीतरागी महात्मा मेरी गुफा में विराजमान हैं, इनको देखते ही कोई अपूर्व शान्ति होती है। इनके पधारने से मेरी गुफा धन्य हुई। मैं किस प्रकार उनकी सेवा करूं! ऐसे शुभ भाव पूर्वक वह सूकर गुफा के दरवाजे पर बैठकर उन मुनिराज की रक्षा करने लगा।

उसी समय गुफा के पास आए हुए सिंह को ऐसा भाव आया कि मैं इस मनुष्य को मार कर खाऊँ।

उसी समय शुद्धोपयोग में लीन मुनिराज न तो सूकर पर राग ही कर रहे थे, और न सिंह पर द्वेष ही कर रहे थे। वे तो वीतरागी आनन्द ले रहे थे।

मुनिराज का भक्षण करने की भावना से सिंह गुफा के पास आया। सूकर की दृष्टि उस पर पडी और अविलम्ब ही उसने आगे बढते हुए सिंह को रोका।

सिंह उस सूकर पर टूट पडा सिंह और सूकर मे परस्पर लडाई हुई। क्रूर सिंह के मुकाबिले मे शूकर ने बराबर टक्कर ली। उसके मन मे एक ही धुन थी कि प्राणान्त होने पर भी मैं मुनिराज का बाल बाँका नही होने दूँगा। दोनो ही खूब लडे। एक तो लड रहा मुनिराज के रक्षण के लिए, और दूसरा लड रहा था उनके भक्षण के लिए। लडते-लडते यहाँ तक नौबत आई कि दोनो ने ही एक दूसरे को मार डाला, दोनो ने ही एक-दूसरे की हिसा की। परन्तु सिह तो मरकर दुर्गति मे गया और शूकर मरकर सुगति मे गया, मुनिराज तो ध्यान मे ही वीतरागपने विराज रहे और केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षगति प्राप्त की।

इस दृष्टान्त मे तीन पात्र हैं :—

सिंह का जीव :— जो मुनिराज को मारने की अप्रशस्त द्वेष कषाय मे वर्तता है।

शूकर का जीव :— जो मुनिराज को बचाने की प्रशस्त राग-कषाय मे वर्तता है।

मुनिराज — जो अकषायरूप वीतरागभाव मे वर्तते हैं।

अब इसमे हिंसा-अहिंसा किस प्रकार है यह देखने के लिए जब हम शूकर और सिंह की तुलना करेंगे, तब सिंह की अपेक्षा शूकर के भाव अच्छे है, अत सिंह की अपेक्षा शूकर की प्रशसा करेंगे।

मुनिराज की हिसा नही हुई तो भी सिंह को अपने क्रूर परिणामो के कारण हिसा का पाप लग ही गया और वह दुर्गति मे गया। सिह की हिसा हुई तथापि शूकर अपने शुभ परिणाम के के कारण सुगति मे गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि बाह्य जीवो का जीवन-मरण हिंसा-अहिंसा का कारण नही, किन्तु जीव का भाव ही हिसा-अहिसा का कारण है। इस दृष्टान्त मे मुनि की हिसा भले ही नही हुई, तक भी उनको मार डालने के सिह के हिंसक भाव को

किसी भी प्रकार से भला नही कहा जा सकता । मुनि को मारने की अपेक्षा तो मुनि को बचाने का भाव – राग भाव अवश्य प्रशसनीय है । परन्तु अभी बात अधूरी है, क्योंकि अभी तीसरे पात्र का विश्लेषण करना शेष है ।

जब मुनिराज को भी सामने रखकर तुलना करेंगे, तब निस्सन्देहपने दिखाई पडेगा कि वीतराग भाव मे विराजमान मुनिराज का कार्य ही श्रेष्ठ कार्य है, वही अत्यन्त प्रशसनीय है और उस वीतराग भाव की समानता मे शूकर का प्रशस्त राग भी प्रशसनीय नही है ।

मुनिराज का वीतराग भाव ही परम अहिंसारूप होने से उसे ही हम प्रशसनीय कहेगे, और उसे ही मोक्ष का कारण कहेगे।

उस वीतरागभाव के समक्ष शूकर के राग भाव को हम "परम" अहिंसा नही कहेगे, अपितु उसे भी "हिंसा" की कक्षा मे ही रखेगे । भले ही उस राग मे "प्रशस्त" विशेषण लगाया जाय, तो भी उसे हिंसा तो कहना ही पडेगा, क्योकि जितनी कषाय है उतनी तो हिंसा है ही । पीतल मे प्रशस्त विशेषण लगाकर प्रशस्त पीतल कहे, परन्तु इससे कही वह पीतल स्वर्ण की जाति मे तो नही आ सकता । उसी प्रकार किसी रागादि हिंसा को प्रशस्त विशेषण से सम्बोधित कर दिया जाय तो इससे कही वह "अहिंसा" की सज्ञा को प्राप्त नही हो सकता ।

शुभराग वाला वह शूकर का जीव भी आगे चलकर जब राग रहित चैतन्य भाव प्रकट करेगा तभी वह वीतराग भावरूप अहिंसाधर्म मे आवेगा, और उसी परम अहिंसाधर्म से वह मोक्ष को साधेगा । इस प्रकार यह "अहिंसा परमोधर्म" का स्वरूप है ।

मुनि के वीतराग भाव को और शूकर के राग भाव को हम एक ही कक्षा मे नही रख सकते, क्योकि दोनो की जाति एक दूसरे से विरुद्ध है ।

मुनि को मारने के भाव से बचाने का भाव अपेक्षाकृत उत्तम होने पर भी, उन दोनो की एक ही कक्षा है। जैसे, एक ही वर्ग मे पढते हुए विद्यार्थियो मे एक प्रथम नम्बर का हो, और एक अन्तिम नम्बर का हो, परन्तु दोनो की कक्षा एक ही है, वैसे सिंह और शूकर दोनो मे जितनी रागादि कषाय है उतनी हिंसा है, और जो हिंसा है वह अहिंसा नही है, धर्म नही है। मुनिराज का वीतराग भाव अहिंसा है और वही धर्म है।

भगवान महावीर द्वारा कथित परम अहिंसा धर्म को जानने के लिए, और उसका पालन करने के लिए, मुमुक्षु जीव को प्रथम तो चैतन्य उपयोग ओर राग इन दोनो का अत्यन्त भिन्नपना जानना चाहिए। भिन्नपना जाने तो ही रागरहित शुद्धोपयोगरूप अहिंसाधर्म को साध सकता है। भगवान महावीर ने और उनके शासन मे हुए सन्तो ने वैसा भिन्नपना अपने आत्मा मे साक्षात् अनुभव करके आगम मे स्पष्ट बताया है। आचार्य कुन्दकुन्द देव समयसार गाथा २४ मे कहते हैं —

सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिण॥

शरीर से और रागादिभावो से भिन्न चैतन्यमय आत्मतत्व को जो नही जानता, और जीव को रागादि सयुक्त ही अनुभव करता है, ऐसे अप्रतिबुद्ध जिज्ञासु को आचार्यदेव सर्वज्ञ के ज्ञान की साक्षी से और अपने अनुभव से प्रतिबोधित करते हैं कि हे भाई! ("जो नित्य उपयोग स्वरूप है वह जीव है" ऐसा सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान मे आया है, आगम मे भी भगवान ने ऐसा स्पष्ट प्रकाशित किया है, और अनुभव मे भी जीव सदा ज्ञानस्वरूप से ही अनुभूत होता है। अपना उपयोगपना छोडकर जीव कभी पुद्गलरूप तो हो नही जाता। जैसे अंधकार को और प्रकाश को एकपना नही है, भिन्नपना ही है,

उसी प्रकार चेतन प्रकाश रहित रागादि भावो को और चेतन प्रकाश रूप उपयोग को कभी एकपना नही है, सदा भिन्नपना ही है। इस प्रकार अपने उपयोग लक्षण से अपने जीव को तू समस्त जड से और राग से भिन्न जान, और उपयोग स्वरूप से ही अपने को अनुभव मे लेकर तू अत्यन्त प्रमुदित हो।)

अरे ! आज तक उपयोग स्वरूप को भूलकर, रागादिरूप ही अपने को मानकर अपनी हिंसा की, और इसीलिए चतुर्गति मे दुःखी हुआ। अब सर्वज्ञ मार्गी श्रीगुरुओ के प्रताप से अपने स्वतत्व का मुझे भान हुआ कि अहो! मैं तो सदा उपयोगस्वरूप ही रहा हूँ, मेरा यह उपयोगस्वरूप कभी घाता नही गया, इसप्रकार उपयोग स्वरूप आत्मा की अनुभूति रागादि से अत्यन्त भिन्न होने से परम अहिंसारूप है, अर्थात् उपयोग स्वरूप आत्मा के अनुभवरूप शुद्धोपयोग ही परम अहिंसा धर्म है।

सर्वमान्य मोक्षशास्त्र मे श्री उमास्वामी जी कहते हैं **"उपयोगो लक्षणम्"**।

उपयोग जिसका लक्षण है वह जीव है। जीव को अपने उपयोग-स्वरूप मे सदा तन्मयपना है, रागादि मे या शरीरादि मे उसका तन्मयपना नही है। वह उपयोग किसी के द्वारा रचित नही है। अपना अस्तित्व रखने के लिए वह कही इन्द्रियो की या राग की अपेक्षा भी नही रखता। उपयोग इन्द्रियो और राग से रहित जीव का स्वयं-सिद्ध स्वरूप है।

(उपयोग कहो या चेतना कहो। उस चेतना का रागरहित परिणमना अर्थात् शुद्ध चेतना ही अहिंसा है, वही धर्म है, वही मोक्ष मार्ग है। उस चेतना मे रागादि अशुद्ध परिणमन हिंसा है, वही ससार का कारण है।)

उपयोग और राग की स्थिति जीव के पाँच भावो मे इस प्रकार है।

उपयोग पारिणामिक भाव है। उपयोग का शुद्धपरिणमन क्षायिकादि भावरूप है। रागादि भाव औदयिक भाव रूप हैं। इस प्रकार उपयोग और राग मे भाव से भिन्नता है।

नव तत्त्वो मे उपयोग और राग की स्थिति इस प्रकार है –

उपयोग तो जीव और सवर-निर्जरा मोक्षतत्व मे आता है। रागादिभाव आस्रव-बन्धतत्व मे आते है। इस प्रकार उपयोग और राग ये दोनो तत्व भिन्न है।

न्याय-युक्ति से देखे तो –

उपयोग के साथ आत्मा की समव्याप्ति है। रागादि के साथ आत्मा की समव्याप्ति नही है। इसलिए न्याय से उपयोग और राग की भिन्नता ही सिद्ध होती है, उपयोग और राग की एकता किसी प्रकार सिद्ध नही होती।

अनुभव मे भी उपयोग और राग का स्वरूप इस प्रकार है –

रागादि रहित उपयोग स्वरूप जीव ही अनुभव मे आता है। किन्तु उपयोग से रहित जीव कभी अनुभव मे नही आता।

इस प्रकार धर्मी की अनुभूति मे उपयोग और राग की भिन्नता है, राग से भिन्न उपयोग स्वरूप आत्मा ही अनुभूति मे प्रकाशता है। यही वात आचार्य कुन्दकुन्द देव नियमसार और भाव-प्राभत मैं कहते है –

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥

मैं एक शाश्वत ज्ञान-दर्शन लक्षण आत्मा हूँ, उपयोग के अतिरिक्त अन्य सब सयोग लक्षणरूप भाव मेरे से बाहर है, वे मेरे स्वभाव लक्षण रूप नही है – ऐसी धर्मात्मा की अनुभूति होती है।

रागादिभाव यदि आत्मा का लक्षण हो तो उनके नाश से आत्मा भी मरण को प्राप्त हो जाय, परन्तु राग का नाश हो जाने पर भी सिद्ध जीव सादि अनन्तकाल तक आनन्द से जीते है, अतः राग आत्म-लक्षण नही है। राग को आत्मा का लक्षण माने तो अव्याप्ति दोष आता है। उपयोग ही आत्मा का लक्षण है, वह आत्मा से कभी भिन्न नही पडता। उपयोग के अभाव मे आत्मा का अभाव हो जावेगा, क्योकि आत्मा सदा उपयोग स्वरूप है। उपयोग ही जीव का सर्वस्व है। उस उपयोग की शुद्ध अवस्था हो तव उसके साथ शान्ति, वीतरागता, आनन्द आदि सर्व गुणो से आत्मा का जीवन शोभित हो उठता है, वही सच्चा जीवन है।

मोह-रागादिभाव उपयोग से विपरीत हैं, उनमे शान्ति का जीवन नही, किन्तु भावमरण है, इसलिए जीव को वह इष्ट नही है।

शुद्धोपयोग सच्चा अहिंसाधर्म है, उसमे राग का अभाव है, वह जीव को इष्ट है, क्योकि उसमे स्वभाव का घात नही होता, अपितु आनन्दमय स्वभाव की उपलब्धि होती है, अत वही जीव को इष्ट है। इस तरह वीतराग भाव का उपदेश ही भगवान महावीर का इष्ट उपदेश है।

हे भव्य जीवो! भगवान के ऐसे इष्ट उपदेश को पहिचानकर उसकी उपासना करो।

व्रती श्रावक का स्वरूप

अहिंसा धर्म का स्वरूप विस्तार से समझाने के बाद अब अहिंसा व्रतो के धारक श्रावक का स्वरूप कहते है।

जिसने सर्व कषायो से अत्यन्त भिन्न उपयोग स्वभाव को जानकर सम्यग्दर्शन और भेद-ज्ञान किया है, उसको बाद मे वीतराग भाव की वृद्धि होने पर श्रावकपना तथा मुनिपना होता है। उसमे से श्रावक के अणुव्रतो का वर्णन इस छहढाला की चौथी ढाल के १० वे से १३ वे छन्द मे चल रहा है ।

शुभ-अशुभ, पुण्य–पाप, हर्ष-शोक ये सब संसार के द्वन्द हैं, आत्मा उन सबसे भिन्न चेतन स्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान ही शास्त्र की लाखो बातो का सार है, इसलिए ऐसा निश्चय करके अन्तर मे तुम सदा आत्मा को ध्यावो - ऐसा कहा है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर जो आत्मस्वरूप अनुभव मे आया, उस स्वरूप मे एकाग्र होने पर आत्मशान्ति जितनी बढे और कषाय भाव जितना छूटे, उतने ही प्रमाण मे चारित्रदशा होती है। वह चारित्र रागरूप नही है, किन्तु वीतराग भावरूप है, उसमे कषाय नही है अपितु परमशान्ति है, वह स्वर्ग का कारण नही, किन्तु मोक्ष का कारण है। ऐसी चारित्रदशा के साथ जो राग शेष रह जाता है, वह कितना मर्यादित होता है उसका वर्णन व्रत के कथन द्वारा किया है ।

चौथे गुणस्थान मे आशिक वीतराग भाव हुआ है, परन्तु व्रतभूमिका के योग्य वीतराग भाव अभी नही हुआ, इसलिए उसे "अविरत" कहा जाता है । चौथे गुणस्थान मे सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबधी क्रोध-मान-माया-लोभ के अभावरूप "स्वरूपाचरण" तो है, तथा उतनी शान्ति भी निरन्तर वर्तती है, परन्तु हिंसादि पापो का नियम से त्यागरूप चारित्र श्रावक अथवा मुनि को ही होता

है। उसमे श्रावक को पाँचवें गुणस्थान मे यद्यपि एक देश चारित्र होता है तथापि सर्वार्थ सिद्धि के देवो की अपेक्षा वह अधिक सुखी है। अहो, चारित्रदशा देखो कैसी महिमावन्त है।

सम्यक्पना सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना चारित्र मे नही आता इसी अपेक्षा से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को सम्यक्चारित्र का कारण कहा है। सम्यग्दर्शन विना अकेला ब्राह्य क्रिया काण्ड या शुभराग रूप व्रत सच्चे चारित्र नही है, अर्थात् वे मोक्षमार्ग मे कार्यकारी नही हैं। ऐसा रागरूप चारित्र तो अज्ञान सहित जीव ने अनन्तबार कर लिया है। आठ कषाय के अभाव रूप एक देश वीतराग चारित्र [देश चारित्र] सम्यग्दृष्टि के ही होता है, बाद मे बारह कषाय के अभाव वाला सकल चारित्र तो निर्ग्रन्थ-दिगम्बर मुनि के ही होता है। ऐसा चारित्र ही मोक्ष का कारण है।

चारित्र के बिना मोक्ष नही होता यह–बात बिलकुल सत्य है, परन्तु वह चारित्र कैसा ? कि जैसा ऊपर कहा है वैसा वीतराग। चैतन्य स्वरूप मे एकाग्रता से ही वीतराग चारित्र होता है। ऐसे चारित्र का स्वरूप पहिचान कर सम्यग्दर्शन ज्ञान के पश्चात् परिणाम की शुद्धतानुसार दृढ चारित्र धारण करना चाहिए। विशेष शक्ति न हो तो अल्प चारित्र ग्रहण करना, किन्तु चारित्र मे शिथिलता नही रखना। दृढता पूर्वक पालन करते हुए आगे बढते जाना।

धर्मी-श्रावक को यद्यपि मुनि जैसा चारित्र नही होता, फिर भी उसे भावना तो मुनिपने की ही होती है। उसी भावना पूर्वक वह हिंसादिक पापो को नियम पूर्वक छोडकर अहिंसादि व्रतो का पालन करता है, तथा उन्ही की पुष्टि के लिए तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा–व्रत पालता है। दिग्व्रत, देश व्रत और अनर्थ दण्ड परित्याग व्रत ये तीन गुण व्रत हैं, क्योकि वे व्रत के पालन मे गुण करने वाले हैं।

दशो दिशा सन्बन्धी मर्यादा निश्चित करके उससे बाहर के क्षेत्र मे जीवन पर्यंत न जाना, तथा पत्र-व्यवहार द्वारा भी वहाँ से व्यापारादि का सम्बन्ध न रखना, उसका नाम दिग् [दिशा] व्रत है ।

दिग्व्रत मे जितनी छूट हो उसमे से भी अमुक क्षेत्र मे जाने का अमुक समय तक त्याग करना देशावकाशिक व्रत है ।

निष्प्रयोजन पाप की वृत्तियाँ-जैसे लडाई की बाते, भूमि खोदना, फल-फूल तोडना, बहुत पानी फैलाना, अन्य प्राणियो को दु ख हो ऐसा खेल खेलना, कोई लडता हो उसे उत्तेजित करना, दूसरे की निन्दा मे रस लेना । इसतरह अनेक प्रकार की अनर्थ रूप पाप प्रवृत्तियो का त्याग करना अनर्थदण्ड परित्याग व्रत है । अनर्थ-दण्ड व्रत ऐसा सक्षेप मे बोला जाता है, किन्तु पूरा नाम "अनर्थदण्ड-परित्याग" है ।

उसके बाद सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि सविभाग, (मुनि आदि को आहारदान की भावना) ये चार शिक्षा-व्रत हैं । इनके अभ्यास से श्रावक मुनिपने की भावना पुष्ट करता है । दर्शन प्रतिमा और व्रत प्रतिमा के बाद आगे बढकर सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग, रात्रि भोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरभ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट भोजन त्याग, इस प्रकार कुल ११ प्रतिमाएँ होती हैं । यद्यपि इनमे रात्रि भोजन त्याग आदि सदाचार तो सामान्य गृहस्थो के भी होता है, परन्तु प्रतिमाधारी श्रावक को ये सब आचरण अतिचार रहित, प्रतिज्ञा पूर्वक होता है । श्रावक के वस्त्र धारण होता है, परन्तु मुनि होने के बाद शरीर पर किसी प्रकार का वस्त्र नही रहता, अत जैन मुनि निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं ।

जिज्ञासुओ को यह बात ध्यान मे रखना चाहिए कि व्रतो का पालन सम्यग्दर्शन सहित होने पर ही सच्चा होता है, और उसमे भी

जितनी शुद्धता और वीतरागता है उतना ही मोक्षमार्ग है, जितना शुभराग है वह पुण्यबध का कारण है, मोक्ष का कारण नही।

अहा! चैतन्यसाधना मे मग्न मुनियो की तो क्या बात, वे तो अतिन्द्रिय आनन्द मे विशेष लीन है, महाव्रती हैं, उनकी तो मात्र पानी मे रेखा जैसी अति मन्द सज्वलन कषाय रह गई है, बारह कषाय के अभाव से अतिन्द्रिय शान्ति विशेष बढ गई है, उस मुनि-दशा का वर्णन छठी ढाल मे करेंगे। यहा श्रावक का वर्णन है। श्रावक मुनि से कुछ छोटा होता है, परन्तु उसे भी चैतन्य की अतिन्द्रिय शान्ति का निर्विकल्प वेदन कभी-कभी हुआ करता है। ऐसे व्रतधारी पचम गुणस्थानवर्ती आत्मानुभवी असख्यात श्रावक ढाई द्वीप के बाहर है। वे सभी तिर्यंच हैं। यद्यपि वहाँ के तिर्यंचो (पचेन्द्रिय सज्ञी) मे असख्यातवाँ भाग सम्यदृष्टि जीवो का है, तो भी वे असख्यात है और श्रावक भी असख्यात हैं। मनुष्यो का गमन ढाई द्वीप के बाहर नही होता परन्तु तिर्यंच तो (सिह-वाघ-मछली आदि) ढाई द्वीप के बाहर असख्यात सम्यग्दृष्टि श्रावक है। असख्यात मिथ्यादृष्टि के बीच मे एक सम्यग्दृष्टि, तथापि ऐसे सम्यग्दृष्टि और व्रती श्रावक असख्यात हैं। समूर्छन को छोडकर गर्भज मनुष्य तो सख्यात ही है, तथा उनमे भी सम्यग्दृष्टि और श्रावक तो थोडे ही होते हैं। इतना होने पर भी मनुष्यो मे सम्यग्दृष्टि जीवो की सख्या अरबो मे होना शास्त्र मे कही है।

ढाईद्वीप के बाहर जो असख्यात द्वीप – समुद्र हैं उनमे तो भोगभुमि की रचना है, अर्थात् वहाँ उत्पन्न हुए जीवो को व्रत या श्रावकपना नही होता। किन्तु अन्तिम स्वयभूरमण समुद्र मे कर्मभूमि जैसी रचना है, वहाँ रहने वाले तिर्यंच को पचम गुणस्थान का श्रावकपना हो सकता है। वे व्रती – श्रावक तिर्यंच सामायिक भी करते हैं, उनके सामायिक व्रत होता है। कुछ अमुक निश्चित शब्दो का बोलना ही सामायिक नही है, किन्तु अन्तर मे अकषायभाव होने

पर चैतन्य मे से समतारस के झरने झरते हैं – उसका नाम सामायिक है। समताभावरूप आत्मपरिणति हो गई, वही सामायिक है।

वाह ! सम्यग्दर्शन के पश्चात् तिर्यच को भी सामायिक होती है, समुद्र मे मछली को भी सामायिक होती है, सिह को भी सामायिक होती है। देखो न ! राजा रावण का हाथी त्रिलोकमण्डन, जिसको रामचद्र जी अयोध्या ले आये थे, वह भी जाति स्मरण और सम्यग्दर्शन सहित व्रतधारी श्रावक हो गया था। महावीर के आत्मा को सिह के भव मे सम्यग्दर्शन हुआ, और उसने व्रतधारी श्रावक होकर समाधिमरण किया।

पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक गृहस्थ भी हो सकता है, उसके स्त्री पुत्रादि भी होते है, कोई स्त्री भी श्राविका होवे और रसोई आदि भी करे, उसमे आरम्भ जनित अमुक हिसा भी होती है, परन्तु त्रस जीव को सकल्प से मारने का भाव उसको नही होता। अरे ! सामान्य दयालु सज्जनो को भी ऐसे क्रूर परिणाम नही होते। श्रावक तो अत्यन्त करुणावन्त दयालु होता है, किसी भी जीव को दु ख देने की वृत्ति उसको नही होती। एक चीटी को भी मार डालू या दु ख दूं, ऐसी वृत्ति श्रावक को नही होती। जल आदि स्थावर जीवो की हिसा हो – ऐसी प्रवृत्ति भी बिना प्रयोजन के श्रावक नही करता। इसी प्रकार असत्यादि पापो से भी उसका चित्त पीछे हट गया है। विशेष अकषायी समताभाव उसके वर्तता है। अहा ! जैनधर्म मे श्रावकपद कितना ऊँचा है, इसकी जगत को खबर नही। इसके चारित्र की वीतरागी चमक कोई अद्‌भुत होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर अपने आत्मा को सिद्धसमान अनुभव किया और सर्वजीव परमार्थ से सिद्धसमान भासित हुए, तब अनन्तानुबधी कषाय के अभावरूप समभाव प्रगट हो गया। वह धर्मात्मा

किसी को अपना विरोधी या शत्रु नही मानता अर्थात् उसे किस को मार डालने की बुद्धि नही होती। उसके उपरान्त पाँचवां गुण-स्थान होने पर तो समभाव की विशेष वृद्धि हो जाती है और कषाय विशेष छूट जाती है। किसी जीव को मार देने की या दु ख देने की वृत्ति उसके नही रहती, दूसरे प्राणी को दु ख पहुँचे या उसका वध हो ऐसे कठोर वचन भी वह नही बोलता। धर्म की निन्दा के वचन अथवा घात के वचन असत्यवचन हैं, धर्मी को वे शोभा नही देते। उठते-बैठते, चलते-फिरते प्रयोजन रहित असत्य बोले–ऐसा श्रावक को नही होता।

इसी प्रकार व्रती श्रावक पराई वस्तु नही चुराता, परस्त्री से भी अत्यन्त विरक्त रहता है और स्वस्त्री मे भी मर्यादित रहता है, तथा देश काल अनुसार परिग्रह की मर्यादा रखता है। यद्यपि स्थूलरूप से हिंसादि पापो का त्याग तो साधारण सज्जन को भी होता है, परन्तु श्रावक के तो नियमपूर्वक उनका त्याग होता है, प्राणनाश का प्रसग आने पर भी उसमे दूषण नही लगने देता, इस प्रकार उसको शुद्धि बढ गई होती है। ज्ञान मे, स्थिरता मे, शान्ति मे, वीतरागता मे वह सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा भी आगे बढ गया है, चारित्र की चमक से उसका आत्मा मोक्षमार्ग मे शोभित हो रहा है।

देखो! यह जैनधर्म की श्रावकदशा! मैं शुद्ध आनन्दचेतना स्वरूप हूँ – ऐसे अनुभव पूर्वक होने वाले वीतराग भाव की यह बात है। जहाँ अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष कषाये सर्वथा छूट गई हैं, वही हिंसादि पापो का सच्चा त्याग है और वही सच्चे व्रत हैं। उन्ही व्रतो मे अलौकिक वीतरागी शान्ति होती है। ऐसा पाँचवा गुणस्थान नरक और स्वर्ग मे नही होता, तिर्यंच के पाँचवें गुणस्थान तक की दशा होती है, छठा नही होता। मनुष्य गति मे सभी (१४) गुणस्थान होते हैं, इसलिए वह उत्तम है।

सम्यक्त्वादि गुणो से जीव की शोभा है, सम्यक्त्व के बाद चारित्र दशा से जीव विशेष शोभता है। अहो जीवो ! राग मे कोई शोभा नही है, वीतरागता मे ही शोभा है। सम्यग्दर्शन सहित जितनी वीतरागी शुद्धता हुई, उतना निश्चयव्रत है, उसके साथ मे अहिंसादि सम्बन्धी जो शुभराग रहा, वह व्यवहारव्रत है। व्रत की भूमिका मे वीतरागी देव-गुरु-धर्म की बराबर पहिचान होती है तथा उनके द्वारा कहे गये आत्मस्वरूप के भानसहित सम्यग्दर्शन होता है। इसमे ही जिसकी भूल है, देव-गुरु-धर्म ही जिसका खोटा हो, उसको व्रत कहाँ से होगे ? कैसे होगे ? तथा चारित्र भी कैसे होगा ? इसलिए कहा कि परद्रव्य से भिन्न आत्मस्वरूप की रुचि सो सम्यक्त्व है और अपने स्वरूप का जानना सो सम्यग्ज्ञान है, उसे लाख उपाय करके भी धारण करो, तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान के उपरान्त परिणाम की शुद्धतानुसार दृढपने चारित्र का पालन करो, हो सके तो मुनि की भूमिका का उत्तम चारित्र पालो, यदि हीनशक्ति हो तो श्रावक के योग्य एकदेशचारित्र पालन करो, उसमे शिथिलता मत रखो। अपने परिणाम की शुद्धता का विचार किए विना चारित्र या व्रत तो धारण कर ले, फिर उसमे शिथिलाचार वर्ते – यह जैनधर्म मे शोभा नही देता। तुझ से विशेपचारित्र न पल सके तो अल्पचारित्र ही पालना, परन्तु भाई ! बडा नाम धारण करके शिथिलाचार द्वारा तू चारित्र को लजाना मत। शुद्धता सहित चारित्र का पालन हो तब तो अत्युत्तम है, पूजनीक है, सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी चारित्रवत के चरणो मे नमता है, किन्तु जहाँ आत्मा का ज्ञान ही नही वहाँ चारित्रदशा कैसी? ऐसे अज्ञानी के व्रत-तप को तो समयसार गाथा १५२ मे बालव्रत और बालतप कहकर मोक्षमार्ग मे निषेध किया गया है।

अणुव्रती श्रावक को पचमगुणस्थान मे स्थूल हिंसादि पापो का तो सर्वथा त्याग हो गया है और सूक्ष्म हिंसादि रह गए है, उसको भी वह पाप समझता हैं, उन्हे करने जैसा नही मानता, उन पापो

का उसे खेद है और सर्वसग त्यागी मुनिपने की भावना है। वह अणुव्रती-श्रावक प्राण जावे तो भी पर की वस्तु को नही चुराता, ससार सम्बन्धी समस्त परस्त्रियो के प्रति उसका चित्त सर्वथा विरक्त रहता है, परस्त्री के सेवन का विकल्प भी उसके नही आता, देवागना को देखकर भी उसका चित्त नही ललचाता – ऐसी निर्विकल्प शान्ति का स्वाद उसके सदा वर्तत है।

उसने परिग्रह की ममता त्याग कर उसकी मर्यादा कर ली है, मर्यादा के बाहर किसी परिग्रह की वृत्ति ही उसके नही उठती। आजकल तो देखो, धन के लिए लोग कैसी अनीति और अन्याय की प्रवृत्ति कर रहे है? धर्मी-श्रावक को ऐसा नही होता, वह स्वर्ण के ढेर देखे, हीरा के टुकडे देखे, तथापि उन्हे लेने की वृत्ति उसके न उठे, इतनी निष्परिग्रहता उसके हो गई है, अर्थात् बाहर मे ऐसा त्याग सहज होता है। श्रद्धा-ज्ञान मे तो सभी सम्यग्दृष्टियो ने सर्व परद्रव्यो को अपने से सर्वथा भिन्न जाना है, उनमे एक रजकण मात्र का स्वामित्व उनके नही रहा, तदुपरान्त स्थिरता से दो कषायो का अभाव होने पर परिग्रह की ममता विशेष छूट गई है, जो मर्यादित परिग्रह है, उसकी अल्पममता को भी पाप समझता है और शक्ति बढाकर उसका भी त्याग करना चाहता है।

इसप्रकार श्रावक-श्राविका अपने अणुव्रत मे दृढ रहते है। देखो न, सुदर्शन सेठ के ऊपर कैसे-कैसे कष्ट के प्रसग आए, तो भी अपने शीलव्रत से वह तनिक भी नही डिगे, नही डिगे। रानी ने उनके शील को डिगाने के लिए अनेक हाव-भाव करके ललचाया तथापि उन्हे किसी भी प्रकार रचमात्र विकार नही हुआ और वे ब्रह्मचर्य मे दृढ रहे। इसीप्रकार सीताजी, चन्दना आदि सतियो ने भी अनेकानेक कुचक्रो मे फँसने पर भी महान धैर्य पूर्वक अपने शीलधर्म की सुरक्षा की जिनके उदाहरण जग प्रसिद्ध हैं। ऐसे महापुरुषो के

उदाहरणो से धर्मी जीव अपने व्रतो मे दृढता रखता है। प्राण जावे तो चले जावे, किन्तु धर्मी जीव अपने व्रत को खण्डित नही होने देता, धर्म से विचलित नही होता।

वाह! देखो धर्मी श्रावक के व्रत! ऐसे व्रत सम्यक्त्व पूर्वक ही होते हैं। जिसमे राग-द्वेष का एक कण भी नही समाता, ऐसे अपने पूर्ण चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता से मिथ्यात्व के महापाप को छोडने के बाद अस्थिरता के अल्प पापो से भी छूटने की यह बात है। जिसके अभिप्राय मे राग का स्वीकार है, किसी भी प्रकार के राग से जो चैतन्य को लाभ मानता है, उसे भला वीतरागता कैसे हो सकती हैं? और वीतरागता बिना व्रत कैसे हो सकते हैं? उसने तो अभी राग से भिन्न चैतन्य स्वभाव को जाना ही नही, फिर भला वह राग को छोडेगा ही कैसे? और चैतन्य मे ठहरेगा ही कैसे? इसलिए भेद-विज्ञान ही चारित्र का मूल कारण है – यह बात बराबर ध्यान पूर्वक समझनी चाहिए।

जहाँ राग के एक कण की भी रुचि है वहाँ निश्चित ही वीतरागी चैतन्य का अनादर है – अरुचि है, अर्थात् मिथ्यात्व है और वह घोर ससार का मूल है। सम्यग्दृष्टि तो आत्मा के मोक्ष स्वभाव को प्रतीत मे लेकर विकार के किसी भी अश को अपने मे स्वीकार नही करता पश्चात् शुद्धता बढने पर राग का त्याग होता जाता है, वह मोक्ष का कारण है, और जीव दया आदि सम्बन्धी जितना शुभराग रहे, उतना पुण्य बध का कारण है, मोक्ष का कारण नही है। इसप्रकार मोक्ष और बन्ध दोनो के कारण को धर्मी जीव भिन्न भिन्न पहचानता है और उनमे से किसी एक को भी दूसरे मे मिलाता नही है।

अरे! आजकल तो जीवो को तत्त्वज्ञान दुर्लभ हो गया है। जो तत्त्वज्ञान बिना मिथ्यात्त्व के महा अनर्थ मे डूबे हुए होने पर भी

अपने को व्रती – चारित्री मानकर दूसरे धर्मात्माओ को तिरस्कृत दृष्टि से देखता है, वह तो महान दोष मे पडा है, जैनधर्म की पद्धति का उसे ज्ञान नही है। जैनधर्म मे तो ऐसी पद्धति है कि प्रथम तत्व-ज्ञान हो और बाद मे व्रत हो। जो सम्यग्दर्शन होने के पहले व्रत चारित्र होना मानता है, वह जैनधर्म के क्रम को नही जानता।

अहो ! सम्यक् दर्शन होने पर चैतन्य स्वभाव के अनन्त गुणो का भण्डार खुल गया, मोक्ष की किरणे खिल गई, अतीन्द्रिय सुख की कणिका प्रगट हो गई, उसकी भूमिका चोखी हो गई, अब उसमे चारित्र का वृक्ष से उगेगा और मोक्षफल पकेगा। सम्यग्दर्शन रूपी भूमिका बिना चारित्र का वृक्ष कहाँ से उगेगा ? इसलिए मोक्ष-मार्ग मे पहले सम्यक्त्व का उपदेश प्रधान है। सम्यदर्शन से ही हित का प्रारम्भ होता है, उसके बिना शुभराग चाहे जितना करे तथापि हित का पथ हाथ आने वाला नही।

अहो ! चैतन्य स्वभावी भगवान आत्मा के शुद्ध द्रव्य-गुण पर्याय के सामर्थ्य की क्या बात ! उसमे राग का किंचित् भी समावेश नही है। अपने ऐसे सुन्दर स्वभाव को अपने मे देख लिया फिर दुनिया के समक्ष और क्या देखना ?

दुनिया के लोग अच्छा कहकर बखान करे या बुरा कहकर निंदा करे उससे अपने को कोई लाभ या हानि नही है। अपने को तो अपने स्वभाव की साधना से लाभ और विभाव से अपने को हानि है। स्वभाव मे या विभाव मे दुनिया के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है।

भाई ! तेरे भाव को दुनिया के लोग माने या न माने, इससे तुझे क्या ? तू राग-द्वेष-कषाय से अपने आत्मा की हिंसा मतकर और वीतरागी शान्ति का वेदन कर यही तेरा प्रयोजन है। अहा !

जहाँ चैतन्य का प्रेम जगा वहाँ कषायो के साथ कट्टी हो गई। प्रशस्त अथवा अप्रशस्त सभी रागभाव इस कषाय मे आ गए, उनसे चैतन्यभाव को भिन्न जानकर उसका जिसने प्रेम किया उसने मोक्ष के साथ मित्रता की। पश्चात् उस धर्मात्मा के जो राग रह जाता है, वह बहुत ही मन्द रस वाला होता है, अर्थात् उसको तीव्र हिंसा झूठ, चोरी, अब्रह्म या परिग्रह के पाप नही होते।

अहा! धर्मी श्रावक का जीवन कैसा होता है। जिनेश्वर भगवन्तो का दास, और ससार से उदास, अन्तर की चैतन्य लक्ष्मी का स्वामी और जगत के पास से अयाचक, जगत के पास से मुझे कुछ भी नही चाहिए, मेरी सुख-समृद्धि का सारा वैभव मेरे मे ही है – ऐसी अनुभूति की जिसको खुमारी है, वह श्रावक जगत की निन्दा-प्रशसा सुनकर अटक नही जाता। लोगो की टोली विरोध करे तो उससे जीव को विभाव नही हो जाता, लोगो की टोली प्रशसा करे तो उससे इस जीव को कही गुण नही हो जाते – वह समभावी तो मध्यस्थ रहकर अपने हितमार्ग पर ही चलता चला जाता है।

जिसका भाव मोह और कषाय मे ही वर्तता है, दुनिया के लोग उसकी प्रसशा करे तो भी उस प्रसशा से उसको कोई लाभ नही। और जिसका भाव मोहादि रहित शुद्ध वीतरागरूप हुआ है, दुनिया के लोग उसकी निन्दा करे तो भी उससे उसे कुछ भी हानि नही है।

अहा! देखो तो सही आत्मा की स्वाधीनता! अपने भावो के ऊपर ही सारा आधार है। अपने भाव मे शुद्धता होना ही शान्ति का लाभ है, और अपने भाव मे अशुद्धता होना ही हानि है। इसके अतिरिक्त लाभ-हानिकारक जगत मे कोई शक्ति नही है। जितनी स्वभाव की सेवा उतना लाभ, और जितना विभाग का सेवन उतनी

अर्थात् दूसरा कोई लाभ-हानि का करने वाला न होने से उसके ऊपर राग-द्वेष करना नही रहा, अपने भाव मे शुद्धता करना ही रह गया। भावो में शुद्धता होने पर धर्मी को हिंसादिभाव छूटते जाते हैं और अहिंसादि व्रत प्रकटते हैं, तदनुसार उसको श्रावक या मुनि दशा होती है।

देखो! भव भ्रमण का अन्त करके मोक्ष के महा आनन्द के मार्ग मे चलने वाले धर्मात्मा की दशा कैसी अदभुत होती है। इसकी दशा जगत से न्यारी होती है। इसके राग रहित ज्ञान मे कोई अलौकिक विलक्षणता होती है। वह ज्ञान अपने हित मे कही नही चूकता। उसे जैसे-जैसे शुद्धता बढती जाती है, वैसे-वैसे राग टूटता जाता है, अल्पराग रहने पर व्रत – महाव्रत होते हैं। वहाँ जो शुभराग है वह उपचार से व्रत है, पुण्यभाव का कारण है और शुद्धता परमार्थ व्रत है, मोक्ष का कारण है। ऐसे दोनो भाव श्रावक और मुनि को एक साथ वर्तते हैं। व्रत - महाव्रत मे अकेला राग नही किन्तु राग के साथ शुद्धता वर्तती है, वीतरागी चारित्र की चमक होती है।

अरे! जहाँ शुद्धता का तो अश भी न हो और मिथ्यात्व की मोटी अशुद्धता पडी हो, वहाँ शुभराग करने से क्या लाभ है? चैतन्य की विराधना करके और राग का आदर करके वह भव मे ही भटकेगा। यदि राग से भिन्न आत्मा को पहिचाने बिना त्रस की स्थिति का मर्यादित काल पूर्ण हो जायगा, तो पीछे अनन्त काल तक एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय मे महा दारुण दु खो को भोगेगा। वे दु ख सातवें नरक की घोरातिघोर वेदना से भी अनन्त गुने दु सह होगे। एक ओर निगोद के दु ख, और उसके समक्ष सिद्धो के सुख। चैतन्य तत्व की पहिचान और आराधना करने पर अनन्तकाल का सिद्ध सुख प्राप्त होता है, जिसका नमूना इस ससार मे कही नही है।

हे भाई ! ऐसे सुख को साध लेने का यह अवसर आया है और उसके लिए श्रीगुरु तुझे हित की शिक्षा देते है। इसी ग्रन्थ की पहली ढाल मे कहा है न – "कहे सीख गुरु करुणाधार"।

भाई ! सत्य समझकर तू अपना लाभ ले ले, अपने आत्मा को भव दु ख से छुडाकर मोक्ष सुख प्राप्त करा ले। जगत के अज्ञानी लोग तो असत् की भी प्रशसा करते है और सत् की भी निन्दा करते हैं परन्तु उससे तुझे क्या ? उससे कही सत्य बदल नही जायगा। अरे ! जगत की दृष्टि का क्या मूल्य ? उसके माप का क्या मूल्य ? तेरी सत्य वस्तु कदाचित् जगत के लोगो के ध्यान मे न आवे और सत्य का मूल्य वे न जानें तो उससे कही तेरे गुण मे कोई हानि थोडे ही हो जायगी। तेरे गुणो को जगत के अभिनन्दन की कोई आवश्यकता नही है। जगत को सत्–असत् का बोध ही कहाँ है ? फिर उसके प्रमाण पत्र का क्या करना है ? धर्मी तो स्वय अपने से ही नि शक वर्तता हुआ मोक्षमार्ग मे अकेला चला जाता है। पच परमेष्ठी भगवन्तो ने उसके मोक्षमार्ग को स्वीकार किया है, फिर अब जगत स्वीकारे या न स्वीकारे, इससे क्या ?

बाहर मे कर्मजनित सम्पदा अल्प हो या बहुत हो, लोगो मे मान विशेष हो या कम हो, कोई वैर रखे या मित्रता रखे, इसके साथ आत्मा के हित का कोई सम्बन्ध नही है। अरे ! जहाँ राग के साथ भी चैतन्य का सम्बन्ध नही वहाँ अन्य की क्या कथा ? ऐसे आत्मा का वीतराग-विज्ञान अपूर्व है, वही "दु खहारी सुखकार" है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक को पाच अणुव्रत के साथ दिग्व्रत-देशव्रत अनर्थदण्ड परित्यागव्रत ये तीन अणुव्रत होते हैं। वे व्रत मे गुण-कारक होने से "गुणव्रत" कहे जाते हैं। इसके साथ ही मुनिपने के अभ्यासरूप चार शिक्षाव्रत होते हैं। जिनका वर्णन १४ वे छन्द मे करेंगे।

क्षेत्र की मर्यादा करके वह श्रावक अपने परिणाम मे आरम्भ-समारभ को रोकता है, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र सम्बन्धी किसी आरभ-परिग्रह का विचार वह नही करता, इतनी स्थिरता उसके परिणामो मे हो गई है। किसी की गुप्त बात को प्रगट करे और उसे दुःख हो – ऐसी प्रवृत्ति अनर्थदण्ड है, श्रावक ऐसा नही करता। सामने वाले का भाव उसके पास रहा, मुझे क्यो किसी का अनिष्ट चिन्तवन करना। लडाई मे अमुक हारे या अमुक जीते, ऐसी हार-जीत की निष्प्रयोजन कषाय धर्मी श्रावक नही करता, क्योकि वह अनर्थकारी है, स्वय को उससे कोई प्रयोजन नही। अमुक जीव पापी है अत उसका नुकसान हो जाय तो अच्छा – ऐसा विचार श्रावक को नही होता। इसी प्रकार हिंसक लडाई, वीभत्स सिनेमा, रेडियो, ताश पत्ता, विषय-कषाय पोषक उपन्यास इत्यादि मे वह रस नही लेता। उसे तो अपने वीतरागी चैतन्य का रग लग गया है, फिर भला अन्य अनर्थकारी पापकार्यों का रस कैसा ?

देखो तो सही यह परिणामो की मर्यादा ! जो सम्यग्दृष्टि व्रती हुआ उसके उपर्युक्त राग-द्वेष के विचार भी नही आते। मन मे पाप के विचार न करे, वचन से भी पाप पोषक उपदेश न देवे, तथा काया से भी वैसे पाप कार्यों मे न प्रवर्ते। इस प्रकार अनर्थ-कारी कार्यों का उसके मन-वचन-काय से त्याग हो गया है। अहा ! वह तो वीतरागमार्ग का पथिक है, उसके निर्दोष जीवन की क्या बात कहें।

श्रावक के चार शिक्षाव्रतों का वर्णन

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् जो चारित्र पालन के लिए तत्पर हुआ है – ऐसे धर्मी श्रावक के पाच अणुव्रतो तथा तीन गुणव्रतो का वर्णन किया। अब चार शिक्षाव्रत कहते हैं –

धरि उर समताभाव सदा सामायिक करिये।
परब चतुष्टयमांहि पाप तज प्रोषध धरिये ॥
भोग और उपभोग नियम करि ममत निवारे।
मुनि को भोजन देय फेरि निज करै अहारे ॥१४॥

सामायिक – श्रावक प्रतिदिन प्रात-मध्यान्ह-साय चैतन्य मे अपना चित एकाग्र करके, राग-द्वेष रहित समताभाव धारण करके सामायिक करता है। सामायिक के काल मे श्रावक को भी साधु के समान माना गया है।

प्रोषधोपवास – प्रतिमास दो अष्टमी और दो चतुर्दशी – इस प्रकार पर्वतिथियो मे शक्ति अनुसार उपवास धारण करना, और आरभ-समारभ छोडकर आत्मचितन करना प्रोषधोपवास है।

भोगोपभोग परिमाण – भोग से विरक्त होकर सर्व सग परित्यागी होने की भावना होने पर भी जब तक साधुदशा नही होती तब तक श्रावक भोग-उपभोग की मर्यादा बाध लेता है और मर्यादित प्रतिज्ञा से अधिक परिग्रह का ममत्व त्याग देता है।

अतिथि सविभाग :– भोजन के समय श्रावक हमेशा मुनि को याद करके आहारदान की भावना करता है। मुनिराज पधार तो मैं उन्हे आहार देकर बाद मे भोजन करूँ – ऐसी भावना उसको सदा रहती है। मुनिराज के अतिरिक्त श्रावक अन्य साधर्मी धर्मात्माओ को भी आदर पूर्वक भोजन कराता है।

व्रतधारी श्रावक को ऐसे भाव सहज होते हैं, उन्हे शिक्षाव्रत कहते हैं, वे व्रत मुनिपने के अभ्यास रूप शिक्षा प्रदान करते है।

राग और चैतन्य की भिन्नता का जहाँ अनुभव हुआ वही राग द्वेष रहित वीतरागी समभावरूप सामायिक होती है। ज्ञान चेतना कहो या समभाव कहो। श्रावक जब प्रतिदिन दो घडी अपने परिणाम को चैतन्य मे स्थिर रखने का प्रयोग करता है और निर्विकल्प होकर स्वभाव मे उपयोग जोडता है तब उसे सामायिक होती है। श्रावक ध्यान घर के सामायिक मे बैठा हो, और उस समय कोई उपसर्ग उस पर आ जाय तो वह डिगता नही, सामायिक के काल मे श्रावक को वस्त्र से ढँके हुए मुनि के समान कहा है। ऐसी सामायिक मोक्ष का कारण है। आजकल तो बहुत से लोग उसको भूलकर मात्र बाह्य मे स्थिर बैठ जाने को सामायिक मान रहे है – उससे शुभराग होने पर पुण्य बँधेगा, परन्तु वह कही मोक्ष का कारण नही होगा।

श्रावक को पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह व्रत होते हैं। दूसरी "व्रतप्रतिमा" मे उनका निरतिचार पालन होता है। पहली प्रतिमा "दर्शनप्रतिमा" है उसमे अष्ट मूल गुणो का सम्यक्त्व सहित निरतिचार पालन होता है। तत्पश्चात् परिणामो की शुद्धि अनुसार "सामायिक प्रतिमा" से लगाकर "उद्दिष्टत्याग प्रतिमा" (ऐलकपना) तक ११ प्रतिमाये होती हैं। ऐलक दशा उत्कृष्ट श्रावक दशा है, उसके बाद मुनिदशा होती है। ऐसी ग्यारह प्रतिमाओ के क्रमपूर्वक ही मुनिदशा होती हो – ऐसा कोई नियम नही है, क्षुल्लक-ऐलक हुए बिना भी कोई सम्यग्दृष्टि सीधा ही मुनिदशा मे होने वाला चारित्र प्रकट करता है। मुनिदशा की तो बात परम अदभुत है। वे तो परमेष्ठी पद मे हैं – इस मुनि जीवन के महा आनन्द की क्या बात ? इन सबके मूल मे धर्मी को वीतराग स्वभाव की दृष्टि निरन्तर लाभ करती है, उसी के बल पर वीतरागी धर्मों का वृक्ष फलता है।

जिसको मिथ्यात्वादि शल्ये हो उसको व्रत नही होते, कहा भी है "नि शल्योव्रती"। अरे ! व्रत मे वहुत वीतरागता है, उसमे मिथ्यात्व माया और निदान कैसे ? पुण्य-फल की वाछा वहाँ नही होती। जैसे अन्दर मास मे लोहे की कील घुसी हो तो गाँठ कभी ठीक नही हो सकती, वैसे ही जिसे अन्दर मे राग की या विपयो की रुचिरूप मिथ्यात्वादि शल्ये पड़ी है उसके राग-द्वेप की गाँठ कभी नही फूटती, अर्थात् वीतरागी समभावरूप सामायिकादि व्रत उसके नही होते। ज्ञान स्वभाव की अनुभूति से मिथ्यात्वादि और निन्दा या अपयश भी कैसा ? अहा ! पाचवे गुणस्थान मे धर्मात्मा को अपयश, अनादेय या दुर्भग प्रकृति का उदय ही नही है। देखो तो सही, वीतराग परिणति की शक्ति ! जहाँ ऐसी वीतरागता वर्तती हो वहाँ अपयशादि का उदय किस मे आवे ? यह तो यश-अपयश से पार अपने समभाव मे विराजता है।

धर्मात्मा को मुनिवरो के प्रति तथा साधर्मी श्रावको के प्रति विशेष प्रेम होता है। वे भोजन के समय प्रतिदिन उन्हे स्मरण करके भावना भाते है कि कोई रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिराज पधारे। ऐसे सन्त को भोजन कराने का प्रसग वनने पर धर्मी के हृदय मे अत्यन्त प्रसन्नता होती है, रत्नत्रय के प्रति उसकी भक्ति उछल पडती है।

इस प्रकार श्रावक को १२ व्रत होते है, उनमे परिणाम की जितनी शुद्धता है उतना तो निश्चयव्रत है और उसके साथ जितना शुभराग शेष रहा उसमे व्रत का उपचार है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार का स्वरूप जानना। शुद्धता तो मोक्ष का कारण है और शुभराग स्वर्ग का कारण है। दोनो भावो को भिन्न-भिन्न पहचानना और व्रतो का पालन करना – यही जीवन मे कल्याण का मार्ग है।

वारह व्रतो का वर्णन करके अब उनके निरतिचार पालन करने का तथा अन्त समय मे सल्लेखना धारण करने का उपदेश देते हैं।

व्रतो के निरतिचार पालन तथा सल्लेखना की प्रेरणा

बारह व्रत के अतीचार पन-पन न लगावे ।
मरण समय सन्यास धारि तसु दोष नसावे ।।
यो श्रावकव्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावे ।
तह तें चय नरजन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावे ।।१५।।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक बारह व्रतो का पालन करना योग्य है। मोक्षशास्त्र के सातवे अध्याय मे प्रत्येक व्रत के पाच-पाच अतिचार बतलाये है, उन अतिचारो से रहित निर्दोष व्रत का जीवन-पर्यन्त पालन करना चाहिए तथा मरण समय आने पर विशेषरूप से सल्लेखना धारण करके कषायो को कृश करना चाहिए। श्रावकधर्म के पालन करने वाले जीव समाधि मरण करके उत्कृष्टपने सोलहवे देवलोक तक उत्पन्न होते है, और वहाँ से चयकर उत्तम मनुष्य होकर मुनिदशा अगीकार करके वीतराग और केवलज्ञानी होकर शिव पद को पाते हैं।

आनन्दकन्द शुद्ध आत्मा काया और कषायो से भिन्न है, उसका जहाँ भान हुआ वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो हो ही जाते हैं, व्रत होवे अथवा न भी हो, तथापि मोक्षमार्ग तो प्रारम्भ हो ही जाता है। पश्चात् जैसे-जैसे आत्मशुद्धि बढती जाती है, वैसे-वैसे कषाय छूटती जाती है, तथा गुणस्थानानुसार व्रत – महाव्रत होते हैं। जब ऐसा निश्चय हो जाता है कि अब इस देह की स्थिति लम्बे समय तक टिकने वाली नही है, मरण का समय निकट आ गया है, तब श्रावक सल्लेखना करता है, अर्थात् चैतन्य स्वभाव की उग्रता के बल से क्रम-क्रम करके कषायो का और आहार का त्याग करता है, और वीतरागी समभाव पूर्वक आराधकभाव सहित समाधि मरण करके स्वर्ग मे जाता है। वहाँ स्वर्ग के दिव्य वैभव के बीच मे भी सम्यग्दर्शन के बल से आत्मा की आराधना चालू रखते

हुए वह उत्तम मनुष्य होता है, तत्पश्चात् मुनि होकर उत्कृष्ट आराधना से केवल ज्ञान प्रकट करके मोक्षपद पाता है। मगलमय वीतराग-विज्ञान का यह फल है। अतः हे भव्य जीवो ! इस मगल-मय और मगलकरण वीतराग-विज्ञान का सदा प्रयत्न पूर्वक सेवन करो।

ससार भ्रमण करते हुए अज्ञानी जीव ने चैतन्य की शान्ति का स्वाद अनन्त काल मे कभी नही चखा, तत्व को जाने विना इसने वाह्य संयोगो मे ही सदा सुख माना है। अरे भाई ! पचम गुणस्थानी मत्स्य भी देवलोक के इन्द्र से अधिक सुखी है, तो तू विचार तो कर कि यह सुख किसका होगा ? कहाँ से आता होगा ? अरे ! यह सुख कही वाहर से नही आता, आत्मा स्वयमेव सुख स्वभावी है उसका वह परिणमन है। सुखरूप से परिणमित उस पचमगुणस्थानी जीव को इतनी महान शान्ति होती है कि चाहे जैसी प्रतिकूल परिस्थिति मे भी उसको अनन्तानुबन्धी अथवा अप्रत्याख्यान क्रोध-मान-माया-लोभ तो रचमात्र भी नही होता, तथा अन्य जो कषाये भूमिकानुसार विद्यमान हैं वे भी अधिक मन्द पड़ गई हैं। राग रहित चैतन्य वस्तु जो उसके अनुभव मे आई है उसी मे स्थिर होने से शान्ति वढती है और कषाये टलकर वीतरागता होती है। इसको जाने बिना अन्य किसी रीति से जीव किंचित् भी सुख नही पा सकता। सम्यग्दर्शन बिना पचमहाव्रतो का पालन करे तथापि आत्मा का सुख मिलने वाला नही, और सम्यग्दर्शन सहित होने पर व्रत पालन किए बिना भी आत्मा के अपूर्व सुख मे मग्न रहता है।

सम्यग्दर्शन के बाद भी जो राग होता है वह तो बन्ध का ही कारण है और दु ख है, परन्तु उसी समय राग से भिन्न वर्तती हुई उसकी चेतना अपूर्व सुख मे लीन है। अहा ! ऐसे चेतनावन्त धर्मात्मा को कौन पहिचानेगा ? कोई विरला भेद ज्ञानी ही उसको पहिचानेगा अर्थात् वही पहिचानेगा जो स्वय मोक्षमार्ग का साधक होगा। वापू ! अज्ञान मे तो तेरा अनन्तकाल चला गया, अब तो इस

चिन्तामणि जैसे मनुष्य अवतार और जिनशासन को पाकर तू अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान कर, अपनी अपार महिमा को जान, जिससे तुझे अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द हो, और तेरा आत्मा इस भव भ्रमण से छूटकर अनन्त काल के लिए सुखी हो जाए।

सम्यग्दर्शन के पश्चात भी हिंसादि पापो से निवृत्त होकर व्रत-चारित्र के ग्रहण करने का उपदेश है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को जितनी शुद्धता है उतनी सवर-निर्जरा है, और जितना राग है उतना आस्रव-वन्ध है। सम्यग्दृष्टी श्रावक को नियम से स्वर्ग का ही आयुष्य बँधता है, वह मरकर स्वर्ग मे ही जाता है, अन्य किसी भी गति मे नही जाता। स्वर्ग का अवतार राग का फल है, शुद्धता के फल मे अन्तर की शान्ति मिलती है, ससार या भव नही मिलते, उसका फल तो मोक्ष है। श्रावक को कुछ राग शेष रह गया है इसलिए उसे स्वर्ग का अवतार मिला, वहाँ से निकलकर वह मनुष्य होगा, पश्चात् मुनि होकर सम्पूर्ण वीतरागी चारित्र प्रकट करके मोक्ष प्राप्त करेगा वीतरागी चारित्र बिना कोई जीव मोक्ष नही पा सकता, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रकट किये बिना वीतरागी चारित्र नही हो सकता। अत प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधना करके पश्चात सम्यक् चारित्र की आराधना करना चाहिए – ऐसा उपदेश है।

इस प्रकार छहढाला की चौथी ढाल मे सम्यग्ज्ञान तथा श्रावक के व्रतो का वर्णन किया।

...भवसिन्धु तरो

आतम रूप अनूपम अद्भुत,
याहि लखै भव सिंधु तरो ।। आतम० ।।

अल्पकाल मे भरत चक्रधर,
निज आतम को ध्याय खरो ।
केवलज्ञान पाय भवि बोधे,
तत्छिन पायौ लोक सिरो ।। आतम० ।।

या विन समुझे द्रव्यलिग मुनि,
उग्र तपन कर भार भरो ।
नव ग्रीवक पर्यन्त जाय चिर,
फेर भवार्णव माहि परो ।। आतम० ।।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप,
ये ही जगत् मे सार नरो ।
पूरब शिव को गये जाहि अब,
फिर जैहै यह नियत करो ।। आतम० ।।

कोटि ग्रन्थ को सार यही है,
ये ही जिनवाणी उचरो ।
"दौल" ध्याय अपने आतम को,
मुक्ति-रमा तव वेग वरो ।। आतम० ।।

– दौलतराम

वीतराग–विज्ञान–प्रश्नोत्तर

१. प्रश्न —छहढाला के मगलाचरण मे किसको नमस्कार किया गया है ?

उत्तर —वीतराग-विज्ञान को।

२. प्रश्न .—पहली ढाल मे क्या कहा गया है ?

उत्तर —जीव चारगति मे कैसे दु ख भोगता है यह बताया गया है।

३. प्रश्न —दूसरी ढाल मे क्या कहा गया है ?

उत्तर —दु ख के कारणरूप मिथ्यात्व को छोडने का उपदेश दिया गया है।

४. प्रश्न —तीसरी ढाल मे क्या कहा गया है ?

उत्तर —सम्यक्त्व की महिमा समझाकर उसकी आराधना करने को कहा गया है।

५. प्रश्न —चौथी ढाल मे किसका उपदेश है ?

उत्तर —सम्यग्ज्ञान की आराधना और देशव्रत का उपदेश है।

६. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान कैसा है ?

उत्तर —स्व-पर को प्रकाशित करने के लिए सूर्य-समान है।

७. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान कब होता है ?

उत्तर —सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है।

८. प्रश्न —सम्यग्दर्शन–ज्ञान दोनो एक साथ होने पर भी ज्ञान की भिन्न आराधना करने को क्यो कहा है ?

उत्तर —क्योकि अभी केवलज्ञान को साधना शेष है - इसलिए।

९ प्रश्न :—दर्शन की आराधना कब पूर्ण होती है ?

उत्तर —क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होने पर।

१०. प्रश्न :—ज्ञान की आराधना कब पूर्ण होती है ?

उत्तर :—केवलज्ञान प्रगट होने पर।

११. प्रश्न —मोक्षमार्ग मे सच्चा ज्ञान किसे कहा जाता है ?

उत्तर :—जो स्व-पर को जाने और मोक्ष को साधे, उसे सच्चा ज्ञान कहा जाता है।

१२. प्रश्न :—पदार्थ का धर्म क्या है ?

उत्तर—वस्तु के गुण-पर्याय ही उसके धर्म है।

१३. प्रश्न — मोक्ष प्राप्त करने के लिए किसका सेवन करना चाहिए ?

उत्तर —सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए।

१४. प्रश्न —शुभराग अथवा पुण्य का सेवन करने के लिए क्यो नही कहा ?

उत्तर :—क्योकि वह मोक्ष का कारण नही है।

१५. प्रश्न :— एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु के कारण वास्तव मे होता है क्या ?

उत्तर —नही, वस्तु के धर्म पर की अपेक्षा रखते ही नही।

१६ प्रश्न —एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु मे जाता है क्या ?

उत्तर —नही, वस्तु के धर्म वस्तु मे ही तन्मय रहते हैं।

१७. प्रश्न :— चारित्र के बिना मोक्ष हो सकता है क्या ?

उत्तर —नही हो सकता।

१८. प्रश्न .—सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना चारित्र होता है ?

उत्तर .—नही होता।

१९. प्रश्न —सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान की आराधना मे क्या विशेषता है ?

उत्तर—दोनो की आराधना एक साथ प्रारम्भ होती है, किन्तु पूर्णता एकसाथ नही होती, क्रम पडता है।

२०. प्रश्न —राग को कौन जानता है ?

उत्तर —राग से भिन्न ज्ञान ही राग को जानता है।

२१. प्रश्न —राग और ज्ञान कैसे हैं ?

उत्तर —दोनो का स्वभाव अत्यन्त भिन्न है। राग मे चेतकपना नही, ज्ञान स्व-पर का चेतक है।

२२. प्रश्न —राग को जानते समय ज्ञान उसमे तन्मय होता है क्या ?

उत्तर —नही, राग को जानने वाला ज्ञान राग से भिन्न ही रहता है।

२३. प्रश्न —राग का आत्मा से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर .—राग वास्तव मे स्वतत्त्व नही है, मगलरूप नही है।

२४. प्रश्न —वीतराग-विज्ञान का क्या स्वरूप है ?

उत्तर —वह स्वतत्त्व है, मगलरूप है, जगत् मे साररूप है।

२५. प्रश्न —मिथ्यात्वसहित होनेवाला शुभाचरण कैसा है ?

उत्तर —वह मिथ्या आचरण है, संसार का कारण है।

२६. प्रश्न .—उस शुभराग से जीव को सुख तो मिलता है न ?

उत्तर :—नही, राग से किंचित् भी सुख नही मिलता, दु ख ही मिलता है।

२७ प्रश्न :—जीव अनादि से क्या कर रहा है ?

उत्तर :—अज्ञान से ससार के दु ख ही भोग रहा है।

२८. प्रश्न :—क्या वह कभी स्वर्ग मे भी गया है ?

उत्तर —हाँ, अनन्तबार गया है।

२९. प्रश्न :—स्वर्ग मे सुखी क्यो नही हुआ ?

उत्तर :—वहाँ सम्यग्दर्शन नही हुआ इसलिए ।

३०. प्रश्न —जीव के लिए अपूर्व क्या है ?

उत्तर :—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ।

३१. प्रश्न :—ससार की चतुर्गति मे भ्रमण से जो थका हो, उसे क्या करना ?

उत्तर .—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ।

३२ प्रश्न :—जो मोक्षसुख को चाहता हो उसे क्या करना चाहिए ?

उत्तर —सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना चाहिए ।

३३. प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से होती है ?

उत्तर :—अपने मे से ही होती है, अन्य के पास से नही ।

३४. प्रश्न —देव-शास्त्र-गुरु क्या कहते है ?

उत्तर :—"तू हमारे सामने मत देख" अपने सामने देख ।"

३५. प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के साथ मे क्या होता है ?

उत्तर :—सम्यग्ज्ञान और अनन्तानुबधी के अभावरूप चारित्र का अश होता है ।

३६. प्रश्न :—सम्यग्दर्शन के साथ ही मुनिदशा हो – ऐसा नियम है ?

उत्तर :—नही, भजनीय है, नियम नही, हो अथवा न भी हो ।

३७ प्रश्न —मुनिदशा मे सम्यग्दर्शन हो – ऐसा नियम है ?

उत्तर —हा, सम्यग्दर्शन के बिना मुनिपद नही होता ।

३८. प्रश्न :—यहाँ सम्यग्ज्ञान को किसका कार्य कहा ?

उत्तर :—सम्यग्ज्ञान को सम्यग्दर्शन का कार्य कहा ।

३९ प्रश्न :—सम्यग्ज्ञान को शुभराग का कार्य क्यो नही कहा ?

उत्तर.—क्योकि राग से सम्यग्ज्ञान नही होता, राग तो सम्यक्-ज्ञान से विरुद्ध जाति का है।

४०. प्रश्न :—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का क्या लक्षण है ?

उत्तर —आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान करना सम्यक्दर्शन का लक्षण है, और जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान का लक्षण है।

४१. प्रश्न :—धर्मात्मा का स्वसवेदन कैसा होता है ?

उत्तर :—अतीन्द्रिय आनन्दरूप और मोक्ष का कारण होता है।

४२. प्रश्न .—ऐसा स्वसवेदन कौन से गुणस्थान मे होता है ?

उत्तर —चौथे गुणस्थान से वह प्रारम्भ हो जाता है।

४३. प्रश्न —स्वसवेदन होने पर क्या होता हे ?

उत्तर :—एकसाथ ही अनन्त गुणो मे निर्मलता होने लगती है।

४४. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान क्या करता है ?

उत्तर :—सबको जानकर, परभावो से भिन्न आत्मा को साधता है।

४५. प्रश्न —किसको देखने से सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर :—आत्मा के सच्चे स्वरूप को देखने से सम्यग्दर्शन होता है।

४६. प्रश्न —सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द की खान कहाँ है ?

उत्तर —जड मे नही, राग मे नही, आत्मा मे हैं।

४७. प्रश्न :—आत्मा का शुद्धस्वरूप कैसा है ?

उत्तर —राग के मिश्रण से रहित, शुद्ध ज्ञानमय है।

४८. प्रश्न :—सम्यग्दृष्टि वस्तु को कैसा जानता है ?

उत्तर :—सामान्य-विशेषस्वरूप जानता है।

४६. प्रश्न —सम्यग्दृष्टि को सदेह होता है ?

उत्तर :—आत्मा के स्वरूप मे अथवा अनुभव मे सदेह नही होता ।

५०. प्रश्न :—सम्यग्ज्ञानी को क्या नही होता ?

उत्तर :—उसको शकादि दोष या मरणादि भय नही होते ।

५१. प्रश्न :—मेरे अनन्तभव होगे – ऐसी शका किसे होती है ?

उत्तर .—मिथ्यादृष्टि को होती है, सम्यग्दष्टि को नही ।

५२. प्रश्न :—ज्ञान के साथ राग होता है ?

उत्तर—अल्पराग हो सकता है, अनन्तभव धारण करने पडे - ऐसा राग नही होता ।

५३. प्रश्न :—ज्ञान के अस्तित्व मे राग का अस्तित्व है ?

उत्तर :—नही, ज्ञान ज्ञानपने मे है, रागपने मे नही ।

५४. प्रश्न :—धर्मी को जो अल्पराग है वह । कैसा है ?

उत्तर —वह भी बन्ध का ही कारण है, मोक्ष का नही ।

५५. प्रश्न :—अपूर्व सम्यग्ज्ञान क्या करता है ?

उत्तर .—वह ससार चक्र को बन्द करके मोक्षमार्ग को चालू करता है ।

५६. प्रश्न .—मोक्ष को साधने की कला क्या है ?

उत्तर —सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष को साधने की अपूर्व कला है।

५७. प्रश्न :—जन्म-मरण के दुःख को मिटाने वाला क्या है ?

उत्तर —सम्यग्ज्ञान जन्म-मरण मिटाने वाला परम अमृत है।

५८. प्रश्न —वीतरागी भेदज्ञान कब तक भाना ?

उत्तर —केवलज्ञान प्राप्त होने तक भेदज्ञान को भाना ।

५९. प्रश्न — सम्यग्दर्शन-ज्ञान को कारण-कार्यपना किस प्रकार है ?

उत्तर—सहचर अपेक्षा से कारण-कार्यपना है ।

६०. प्रश्न —रागादि को सम्यग्ज्ञान का कारण क्यो नही कहा ?

उत्तर —राग अशुद्ध है, राग के अभाव मे भी सम्यग्ज्ञान रहता है, अत राग उसका कारण नही है।

६१. प्रश्न - जैसे श्रद्धा-ज्ञान मे कारण-कार्यपने का व्यवहार है, वैसा अन्य कोई उदाहरण है ?

उत्तर —हाँ है, अतीन्द्रिय ज्ञान को अतीन्द्रिय सुख का कारण कहा है।

६२. प्रश्न —इस कारण-कार्य मे समयभेद भी है ?

उत्तर —नही, समयभेद नही है, दोनो एक ही समय मे होते हैं।

६३. प्रश्न '—सम्यक्चारित्र का मूल कारण कौन है ?

उत्तर —सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान को चारित्र का मूल कारण कहा है, किन्तु राग को नही कहा।

६४. प्रश्न .—जीव ने सम्यग्ज्ञान के विना अव तक क्या किया ?

उत्तर '—कोटिजन्म मे तप तपा, परन्तु शान्ति नही पाई ?

६५. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान कैसा है ?

उत्तर .—वह वीतराग-विज्ञान है, तीनलोक मे सार है।

६६. प्रश्न . —जगत मे सुख का कारण कौन है ?

उत्तर .—ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई सुख का कारण जगत मे नही है।

६७. प्रश्न :—पुण्य को सुख का कारण क्यो नही कहा ?

उत्तर —क्योकि उसके फल मे सयोग मिलते हैं, सुख नही।

६८. प्रश्न :—बुद्धि को कहाँ जोडने से हित होता है ?

उत्तर :—अद्भुत आत्मस्वरूप मे बुद्धि को जोडने से ।.. होता है।

६९. प्रश्न —केवलज्ञान कैसा है ?

उत्तर :—अद्भुत अचिन्त्य महिमा से भरपूर है और महान अतीन्द्रियसुख सहित है।

७०. प्रश्न :—केवलज्ञान की पहिचान करने पर जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर —केवलज्ञान को पहिचानने पर अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव की प्रतीति सहित सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का वेदन होता है।

७१. प्रश्न :—चौथे गुणस्थान मे होने वाला सम्यग्ज्ञान कैसा है ?

उत्तर :—वह भी आनन्दमय है, उसकी भी अपूर्व महिमा है।

७२ प्रश्न —क्या मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष है ?

उत्तर —आत्मसन्मुखता होने पर स्वानुभूति के समय वह भी प्रत्यक्ष है।

७३. प्रश्न :—ऐसा प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान गृहस्थावस्था मे होता है ?

उत्तर :—हाँ, धर्मी गृहस्थ को ऐसा ज्ञान होता है।

७४. प्रश्न —आत्मा के जानने मे इन्द्रियो का निमित्त है ?

उत्तर —नही, क्योकि आत्मा अतीन्द्रिय है।

७५. प्रश्न .—आत्मा के जानने मे राग निमित्त है ?

उत्तर —नही, राग से भिन्न ज्ञान ही आत्मा को जानता है।

७६. प्रश्न —मोक्षमार्ग का प्रारभ कौन से ज्ञान से होता है ?

उत्तर .—अतीन्द्रिय ज्ञान से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

७७. **प्रश्न** —आत्मा को किस प्रकार देखे ?

उत्तर —आत्मा आँख से नही दिखती, इन्द्रियातीत ज्ञान से अनुभव मे आती है ।

७८. **प्रश्न** —आत्मा का साक्षात्कार कब होता है ?

उत्तर —जब उसका अत्यन्त रस और महिमा आवे तब होता है।

७९. **प्रश्न** —पैसे मे से जीव को कभी सुख मिलने वाला है ?

उत्तर —नही, उसमे तो सुख है ही नही, तो फिर मिलेगा कहाँ से ।

८०. **प्रश्न** —अन्तर मे एकाग्र होकर अनुभव करने पर क्या होता है ?

उत्तर —अतीन्द्रिय आनन्दरस की धारा उल्लसित होती है ।

८१. **प्रश्न** —सिंह की आत्मा को अनुभव हो सकता है ?

उत्तर —हाँ, सिंह, हाथी, वानर, सर्प आदि को भी अनुभव हो सकता है । महावीर भगवान के आत्मा ने सिंह के भव मे आत्मानुभव किया था और पारसनाथ भगवान के जीव ने हाथी के भव मे किया था ।

८२ **प्रश्न** :—हाथी आदि को पूर्वभव का जातिस्मरण हो सकता है ?

उत्तर .—हाँ, जातिस्मरण हो सकता है और आत्मज्ञान भी ।

८३. **प्रश्न** —ऐसा ज्ञान किस हाथी को हुआ था ?

उत्तर :—त्रिलोकमण्डल हाथी को, तथा पारसनाथ के जीव को भी ऐसा ज्ञान हुआ था ।

८४. **प्रश्न** ·—सभी साधक जीवो को कौन सा ज्ञान होता है ?

उत्तर —सम्यक् मति-श्रुतज्ञान सभी साधक जीवो को नियम से होते है ।

८५. प्रश्न :—मोक्षमार्ग मे किसका मूल्य है ?

उत्तर :—स्व-सवेदनरूप वीतराग-विज्ञान की परम महिमा है, उससे मोक्षमार्ग सधता है, अत उसी का मूल्य है।

८६. प्रश्न .—केवलज्ञान किनको होता है ?

उत्तर '—सिद्ध तथा अरहन्त भगवन्तो को।

८७. प्रश्न —केवलज्ञानी भगवन्त कितने है ?

उत्तर —अनन्तानन्त है।

८८. प्रश्न '—परमावधि, सर्वावधि, विपुलमति-मन पर्याय किनको होता है ?

उत्तर —चरम शरीरी मुनिवरो को ही होता है।

८९. प्रश्न :—जो परमात्मा हो गए वे पहले कैसे थे ?

उत्तर :—वे भी पहले वहिरात्मा थे।

९०. प्रश्न -वाद मे वे परमात्मा कैसे हुए ?

उत्तर —वे ही अन्तरात्मा होकर परमात्मा हुए।

९१. प्रश्न :—उन्हे अन्तरात्मापना और परमात्मापना किस प्रकार हुआ ?

उत्तर —शुद्धोपयोग से अर्थात् वीतराग-विज्ञान से।

९२. प्रश्न —"णमो अरिहताण" वोलते समय क्या ख्याल मे आना चाहिए ?

उत्तर —उस समय सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की प्रतीति आना चाहिए।

९३. प्रश्न —इस समय मनुष्यलोक मे कितने अरहन्त भगवान हैं ?

उत्तर :—सीमन्धरादि आठ लाख अरहन्त भगवान विचरते हैं।
तीन लाख से ऊपर और नौ लाख के भीतर

९४. प्रश्न —राग को केवलज्ञान का कारण माने तो ?

उत्तर :—तो केवलज्ञान भी रागवाला ठहरे! क्योंकि कारण और कार्य एक जाति के होते हैं।

९५. प्रश्न —केवलज्ञान का कारण कौन है ?

उत्तर :—राग और ज्ञान की भिन्नता का अनुभव करना केवलज्ञान का कारण है।

९६. प्रश्न —केवलज्ञान का स्वीकार इन्द्रिय ज्ञान से हो सकता है क्या ?

उत्तर :—नही, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से ही होता है।

९७. प्रश्न :—सर्वज्ञ की सच्ची पहिचान कब हुई कही जाय ?

उत्तर —अपने मे भेदज्ञान होकर सम्यग्ज्ञान हो जाय तब।

९८. प्रश्न :—उस सम्यग्ज्ञान के साथ क्या होता है ?

उत्तर .—उसके साथ राग रहित वीतरागी सुख है।

९९. प्रश्न :—धर्मात्मा के मति-श्रुतज्ञान कैसे हैं ?

उत्तर :—वे केवलज्ञान की जाति के है, राग से भिन्न हैं।

१००. प्रश्न :—सम्यग्ज्ञान कैसा है ?

उत्तर :—केवलज्ञान के साथ केलि करनेवाला, मोक्ष सुख देने वाला परम अमृत है।

१०१. प्रश्न ·—जीवन किसके लिए है ?

उत्तर:—स्वहित साधने के लिए ही मुमुक्ष का जीवन है।

१०२ प्रश्न :—ज्ञान मे वहुत सुख, और विषयो मे अल्प सुख—ऐसा है क्या ?

उत्तर —नही, सुख तो सम्यग्ज्ञान मे ही है, विपयों मे किंचित् भी सुख नही है।

१०३. प्रश्न —आत्मा का ज्ञान कैसा है ?

उत्तर.—आनन्द सहित है, जिसमे आनन्द नही वह ज्ञान नही।

१०४. प्रश्न :—जीव सिद्ध कैसे होते है ?

उत्तरः—भेद-ज्ञान मे ।

१०५. प्रश्न :—जो जीव बँधे है वे किससे बँधे है ?

उत्तर —भेद-ज्ञान के अभाव से ।

१०६. प्रश्न —यह जानकर करना क्या चाहिए ?

उत्तर --अच्छिन्न धारा से भेद-ज्ञान को निरन्तर भाना चाहिए।

१०७. प्रश्न —भेद-ज्ञानी जीव क्या करता है ?

उत्तर —आत्मा के आनन्द मे केलि करता-करता मुक्ति मे जाता है ।

१०८. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान के प्रसाद से जीव को क्या होगा ?

उत्तर —वह अशरीरी होकर सिद्धालय मे रहेगा, फिर कभी शरीर या संसार मे नही आवेगा ।

१०९. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान विना पर पदार्थों से जीव को सुख मिल सकता है ?

उत्तर —नही, सम्यग्ज्ञान ही आत्मा को सुख का कारण है।

११०. प्रश्न :—केवलज्ञान की प्रतीति करने वाले को राग का कर्तृत्व रहता है ?

उत्तर :—नही राग से भिन्न पडकर ही केवलज्ञान की प्रतीति होती है ।

१११. प्रश्नः—तीन काल तीन लोक को जान लेने पर भी राग-द्वेष क्यो नही होता ?

उत्तर :—क्योकि ज्ञान का स्वभाव राग-द्वेष करना नही है।

११२ प्रश्न:—ज्ञान के स्वाद मे कैसा रस है ?
उत्तर —वीतरागी चैतन्यरस है, अतीन्द्रिय आनन्द है।

११३. प्रश्न:—इस स्वाद को कौन जान सकता है ?
उत्तर —ज्ञान के स्वाद को सम्यग्दृष्टि ही जान सकता है।

११४ प्रश्न :—ज्ञानी को किसके बल से निर्जरा होती है ?
उत्तर :—राग रहित ज्ञान चेतना के बल से निर्जरा होती है।

११५. प्रश्न —ज्ञानचेतना कैसी है ?
उत्तर —मोक्षसुख देने वाली और ससार का नाश करने वाली है।

११६ प्रश्न —तप और निर्जरा मे कष्ट है या आनन्द ?
उत्तर —तप और निर्जरा महान आनन्दरूप है, उनमे कष्ट है ही नही।

११७. प्रश्न —ज्ञानी का शुभराग तो मोक्ष का कारण है न ?
उत्तर —नही, उसको भी ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, राग नही।

११८. प्रश्न —ज्ञान को राग के समय मोक्ष का साधन वर्तता है?
उत्तर —हाँ ज्ञानी को राग के समय राग से भिन्न शुद्ध ज्ञान परिणमन मोक्ष का कारण है।

११९. प्रश्न —अज्ञानी के शुभराग के समय मोक्ष का साधन है ?
उत्तर —नही, क्योकि उसे शुद्धात्मा का अनुभव नही है।

१२०. प्रश्न —चारित्र का मूल कारण क्या है ?
उत्तर :—शुद्धात्मा ज्ञान और श्रद्धान, चारित्र का मूल कारण है।

१२१. प्रश्न —चैतन्य रस चखने के लिए क्या करना चाहिए?
उत्तर —वास्तविक लगन से उसका अभ्यास बराबर करना चाहिए।

१२२ प्रश्न —शास्त्र पठन का वास्तविक फल क्या है ?
उत्तर '—ज्ञानमय शुद्धात्मा की अनुभूति करना।

१२३. प्रश्न .—अनन्तवार मनुष्यभव पाकर भी जीव सुखी क्यो नही हुआ ?

उत्तर :—क्योकि, मनुष्य होकर भी इसने कभी आत्मा की पहिचान नही की।

१२४. प्रश्न —शुभराग से अज्ञान अधकार टल सकता है ?
उत्तर :— नही,सम्यग्ज्ञान प्रकाश से ही अज्ञान अधकार टलता है

१२५. प्रश्न —शुभराग मे सुख भले न हो, परन्तु उसमे दु ख भी तो नही है ?
उत्तर —राग स्वय कषाय आकुलता और दु खरूप ही है।

१२६. प्रश्न :—आत्मा का जीवन क्या है ?
उत्तर —उपयोग ही आत्मा का जीवन है। "जीव उपयोगलक्षण"

१२७ प्रश्न :—जिनवरदेव कथित पदार्थ कैसे हैं ?
उत्तर '—द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप हैं।

१२८. प्रश्न :—पुनर्भव किसको होता है ?
उत्तर —ससारी जीव को पुनर्भव होता है।

१२९. प्रश्न —पुनर्भव किसको नही होता ?
उत्तर .—मुक्त जीव को (परमात्मा को) पुनर्भव नही होता।

१३०. प्रश्न —उनको पुनर्भव क्यो नही होता ?
उत्तर – क्योकि उनके मोह नही है और मरण भी नही है।

१३१. प्रश्न :—जैनतत्व के अभ्यास का फल क्या है !
उत्तर – बस ! आत्मा का अनुभव करना।

१३२. प्रश्न —जैनतत्व क्या बतलाता है ?
उत्तर – पर से भिन्न अपना चैतन्यतत्व अपने मे दिखलाता है

१३३. प्रश्नः—शुद्ध जीवतत्व कैसा है ?

उत्तर — पर से भिन्न, राग से भिन्न शुद्ध उपयोग स्वरूप जीव है।

१३४ प्रश्नः—अजीवतत्व की श्रद्धा हुई - ऐसा कब कहा जाय ?

उत्तर — अजीव को अपने से भिन्न जाने तब।

१३५ प्रश्नः—पुण्य-पाप आस्रव बंध की श्रद्धा हुई – ऐसा कब कहा जाय ?

उत्तरः— उनको परभावरूप जानकर ज्ञान उनसे भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करे तब।

१३६. प्रश्नः—संवर-निर्जरा मोक्ष तत्व की श्रद्धा हुई – ऐसा कब कहा जाय ?

उत्तर — शुद्ध जीव की ओर लक्ष और झुकाव करके संवर निर्जरा प्रगट करें तब।

१३७. प्रश्नः—नवतत्व की सच्ची श्रद्धा किस प्रकार होती है !

उत्तर — शुद्धात्मा की सन्मुखता से सच्ची तत्व श्रद्धा होती है।

१३८. प्रश्नः—सुख के लिए तन-धन-वैभव आदि कुछ कार्यकारी हैं क्या ?

उत्तर — नही, सुख के लिए सम्यग्ज्ञान ही कार्यकारी है।

१३९. प्रश्न —शास्त्रो ने और संतो ने किसका बखान किया है ?

उत्तर — सम्यग्ज्ञानरूप भेद ज्ञान का बखान किया है, प्रशसा की है।

१४०. प्रश्न—करोडो उपायो से (मर करके भी) आत्मा को पहिचानो, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर — चैतन्यतत्व का सर्वोत्कृष्ट रस जागृत करके आत्मा को पहिचानना।

१४१. प्रश्न —करोडो प्रतिकूलताओ के बीच मे आत्महित कैसे हो सकता है ?

उत्तर —क्योकि आत्मा की लगन मे बाह्य प्रतिकूलताएँ बाधक नही है। इसलिए उनके बीच भी आत्महित हो सकता है।

१४२ प्रश्न —अनुकूलता हो तो सभव है आत्मा की साधना सरल हो जाय ?

उत्तर —नही, बाह्य सामग्री आत्महित मे कोई सहायता नही करती ।

१४३. प्रश्न —शरीर जलता रहे और आत्मा शान्ति मे स्थित रहे – ऐसा बन सकता है ?

उत्तर —हाँ, क्योकि दोनो तत्वो की क्रिया अत्यन्त भिन्न है।

१४४ प्रश्न —सच्चा विवेक क्या है ?

उत्तर —स्व-पर का भेदज्ञान करना सच्चा विवेक है।

१४५ प्रश्न —महान अविवेक क्या है ?

उत्तर — ज्ञान के साथ राग और जड की एकता ही महान अविवेक है।

१४६. प्रश्न —आत्महित के उपाय कितने है !

उत्तर —आत्मा को पहिचानकर अनुभव करना, बस यही एक उपाय है।

१४७. प्रश्न.—गृहस्थ निर्लेप रह सकता है ?

उत्तर — हाँ, धर्मात्मा का ज्ञान राग से निर्लेप रहता है।

१४८. प्रश्नः—विषयो की चाहरूपी आग मे जलता हुआ जीव कैसे बचे ?

उत्तर — सम्यग्ज्ञानरूपी मेघधारा से वह आग बुझाकर।

१४९. प्रश्नः—बाह्य विषयो मे अथवा राग मे सुख मानने वाला कैसा है ?

उत्तर—वह अपने आत्मा को अज्ञान की आग मे जलाने वाला है।

१५०. प्रश्न —शुभराग से क्या होता है ? क्या मिलता है ?

उत्तर —शुभराग से पुण्य होता है, जिसके फलस्वरूप बाह्य विषय मिलते है, किन्तु आत्मा का सुख नही मिलता।

१५१. प्रश्नः—"आत्महित के लिए समय नही मिलता" कोई ऐसा कहे तो ?

उत्तर –तो उसको आत्म रस नही, अर्थात् आत्मा प्रिय नही है।

१५२. प्रश्नः—जीव ने सबसे अधिक अवतार किस गति मे किए हैं ?

उत्तर —तिर्यंचगति मे किए हैं।

१५३ प्रश्न —जीव ने स्वर्ग और नर्क के अवतार कितनी बार किए है ?

उत्तर —सामान्यपने अनन्तबार किए हैं।

१५४. प्रश्न —सामान्यपने यह जीव मनुष्य अवतार कब पाता है ?

उत्तर —अनन्तबार देव-नारकी हो तब एकबार मनुष्य होता है।

१५५. प्रश्न —ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव पाकर क्या करना ?

उत्तर —दूसरे हजार काम छोडकर आत्मा को पहिचानना।

१५६. प्रश्न —मनुष्य होकर भेदज्ञान न करे तो ?

उत्तर —तो वह शोभा को प्राप्त नही होता, पशु जैसा है।

१५७. प्रश्न —तिर्यंच हो और भेद ज्ञान करले तो ?

उत्तरः—तो वह देव जैसा शोभायमान होता है, प्रशसनीय है।

१५८. प्रश्न —लाखो बातो मे सारभूत बात क्या है ?

उत्तर —जगत के द्वन्द-फन्द को छोडकर आत्मा का ध्यान करना।

१५९. प्रश्न —मिथ्यादृष्टि किसमे प्रसन्न होता है ?

उत्तर —अनुकूल सयोग मे और राग मे।

१६०. प्रश्न —सम्यग्दृष्टि किसमे प्रसन्न होता है ?

उत्तर —वीतरागी चैतन्य शान्ति के वेदन मे।

१६१. प्रश्न —व्रत किसको होते हैं ?

उत्तर —जिसको सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक वीतरागता वढती है उसको होते हैं।

१६२. प्रश्न —निर्धनता सधनता, अथवा यश-अपयश किसका कार्य है ?

उत्तरः—पूर्वकर्म का कार्य है, ज्ञान का नही।

१६३. प्रश्न —धर्मी को भी बाहर मे प्रतिकूलता हो सकती है क्या ?

उत्तर —हाँ, पूर्व पाप के उदय मे प्रतिकूलता भी होती है।

१६४. प्रश्न—प्रतिकूलता के समय धर्मी को धर्म मे शका पडती है ?

उत्तर —नही, क्योकि ज्ञान तो उस सयोग से भिन्न ही है।

१६५. प्रश्न —धर्मात्मा के पास कौन सी महान सम्पदा है ?

उत्तर —सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति रूपी महान आत्म सम्पदा धर्मात्मा के पास निरन्तर रहती है।

१६६ प्रश्नः—सम्यग्दर्शन से कैसी सम्पदा मिलती है ?

उत्तर —तीनलोक मे श्रेष्ठ ऐसी सिद्धपद की सम्पदा सम्यग्दर्शन से मिलतीहै।

१६७. प्रश्न —सम्यग्दृष्टि जीव किस प्रकार सुखी है ?

उत्तर —अपने चैतन्य परिणमन से ही सुखी है, पुण्य से नही ।

१६८. प्रश्न —ससार मे पुण्य-पाप के फल कैसे हैं ?

उत्तर —चलती फिरती छाया जैसे है, एक समान नही रहते ।

१६९. प्रश्न —आत्मा को इष्ट-अनिष्ट कौन है ?

उत्तर —ज्ञान इष्ट है, मोह अनिष्ट है, पर वस्तु इष्ट-अनिष्ट नही है ।

१७०. प्रश्न —जीव को सुख देने वाला कौन है ।

उत्तर —राग से भिन्न ज्ञान ही सुख देने वाला है ।

१७१. प्रश्न —सब बातो का सार क्या है ?

उत्तर —आत्मा को जानकर उसका ध्यान करना ।

१७२ प्रश्न.—जगत के द्वन्द-फन्द छोडो – इसमे क्या आया ?

उत्तर —पुण्य और पाप दोनो इसमे आ गये ।

१७३. प्रश्न.—सुख-दुःख कहाँ है ?

उत्तर —जीव की ज्ञानपरिणति मे सुख और मोहपरिणति मे दुःख है ।

१७४. प्रश्न —धर्मी की परिणति कैसी है ?

उत्तरः—उसमे राग और ज्ञान भिन्न पड गया है । भेद ज्ञान होने

१७५. प्रश्न.—हर्ष-शोक होना कब मिटे ?

उत्तर —चिदानन्द तत्व के सन्मुख होने पर हर्ष-शोक मिटता है ।

१७६. प्रश्न —ज्ञानी को भी हर्ष-शोक तो होता है ?

उत्तर —उस समय भी हर्ष-शोक से भिन्न ज्ञानधारा उसको वर्तती है ।

१७७. प्रश्न —सम्यग्ज्ञान के आठ अग कौन से हैं ?
उत्तर —योग्यकाल, विनय, उपधान, वहुमान, अनिन्हव, शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि और तदुभयशुद्धि ।

१७८. प्रश्न —अज्ञानी के लिए सबसे ऊँचा स्थान कौनसा है ?
उत्तर —नवमीग्रैवयक [देवलोक]

१७९. प्रश्न —वहाँ वह कितना सुख पाता है ?
उत्तर —लेशमात्र भी नही, क्योकि उसने आत्मा को जाना नही है ।

१८०. प्रश्न —सम्यग्दृष्टि होने के वाद जीव नवग्रैवेयक मे जाता है ?
उत्तर —नही, वह तो एक दो भव मे मुक्ति प्राप्ति कर लेता है ।

१८१. प्रश्न —मिथ्यादृष्टि देवलोक मे जाकर भी दु खी क्यो हुआ ?
उत्तर —क्योकि सुख का सच्चा कारण उसके पास नही था ।

१८२. प्रश्न —भगवान आत्मा किस प्रकार प्रसिद्ध होता है ?
उत्तर —स्वानुभूति मे प्रकट होता है ।

१८३. प्रश्न —उस स्वानुभूति मे क्या समाता है ?
उत्तर —उसमे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनो समाते है, परन्तु राग उसमे नही समाता ।

१८४. प्रश्न —स्वानुभूति कैसे होती हैं ?
उत्तर —अपनी ही उपयोग शक्ति मे प्रगट होती है ।

१८५. प्रश्न —शुद्धात्मा का सच्चा श्रवण किया - ऐसा कव कहा जाय ?
उत्तर —उसके सन्मुख होकर वैसा भाव प्रगट करे तव ।

१८६. **प्रश्नः**—ज्ञानी की सच्ची सेवा कौन कर सकता है ?

उत्तर—जो उसकी अनुभूति को पहिचाने, वही कर सकता है।

१८७. **प्रश्न**—वह अनुभूति किस विधि से पहिचानी जाय ?
उत्तर—ज्ञान के लक्ष से, राग से नही।

१८८. **प्रश्नः**—चारित्र आराधना सच्ची कब होती है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक होती है, उसके बिना नही।

१८९. **प्रश्न**—श्रावक को चारित्र होता है ?

उत्तर—हाँ, सम्यग्दृष्टि श्रावक को देशचारित्र होता है।

१९०. **प्रश्नः**—श्रावक के कितनी कषायो का अभाव हो जाता है ?

उत्तर—अनन्तानुबंधी की चार तथा अप्रत्याख्यान की चार-इस प्रकार आठ कषायो का श्रावक के अभाव हो जाता है। सर्वार्थ सिद्धि के देव से उसकी शान्ति अधिक होती है।

१९१. **प्रश्नः**—गृहस्थदशा मे अधिक से अधिक कौनसा गुणस्थान होता है ?

उत्तर—पाचवा होता है। इससे ऊपर के गुणस्थान दिगम्बर मुनि का होता है।

१९२. **प्रश्नः**—मुनिपना न हो सके तो क्या करना ?

उत्तर—उसकी भावनापूर्वक श्रावक के चारित्र का आचरण करना।

१९३. **प्रश्न**—अरिहन्तदेव के मार्ग मे चारित्र किसे कहा गया है ?

उत्तर,—"सज्ञस्य चारित्रम्"—सम्यग्ज्ञानी के चारित्र को चारित्र कहा गया है।

१९४. **प्रश्न**—वह चारित्र कैसा है ?
उत्तर—आत्मरूप है, रागरूप नही।

१९५ प्रश्न —अण्डा क्या है ?

उत्तर —वह त्रस पचेन्द्रिय जीव है। उसका भोजन मासाहार ही है।

१९६. प्रश्न —अहिंसा धर्म का सच्चा स्वरूप कहाँ है ?

उत्तर —अरिहत के मार्ग मे ही अहिंसा का सच्चा स्वरूप है।

१९७. प्रश्न —अहिंसा का सच्चा पालन कौन कर सकता है ?

उत्तर —जिसने अरिहन्त के वीतरागमार्ग को जाना हो वही कर सकता है।

१९८. प्रश्न —दु खी जीव को दु खमुक्त करने के लिए गोली से मार दें तो भी क्या दोष है ?

उत्तर —तो वह भी हिसा ही है। ऐसा करनेवालो को अहिसाधर्म के स्वरूप का ज्ञान नही है।

१९९. प्रश्न —सिह, सर्प, बिच्छू आदि हिसक जीवो को मारने मे क्या दोष है ?

उत्तर —वह भी हिसा ही है।

२००. प्रश्न —धर्मी जीव, जिसमे त्रस हिंसा होती हो वह औपधि सेवन करे या नही ?

उत्तर - नही, [ऐसी विद्या भी वह पढे नही] भयकर रोग हुआ हो, मास का एक टुकडा या अण्डा आदि खाने से वह मिट सकता हो तथापि धर्मी जीव [अरे, जिज्ञासु जीव भी] प्राण जावे तो जावे परन्तु उन्हे खा सकता नही। मद्य-मधु भी अभक्ष्य हैं, उन्हे भी नही खा सकता।

१२१. प्रश्न —जैनधर्म मे अहिंसा की परिभाषा क्या है ?

उत्तर —रागादि भावो की उत्पत्ति ही हिंसा है, उससे चैतन्य-प्राण का हनन होता है।

२०२ प्रश्नः—प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग – इन दोनो का क्या स्वरूप हैं ?

उत्तर —यह दोनो ही कषाय है अर्थात् हिंसा है।

२०३. प्रश्न·—वीतराग भावरूप अहिंसा धर्म कैसा है ?

उत्तर —सर्वजीवो का हितकारी है, इष्ट है, श्रेष्ठ है और वही भगवान का इष्ट उपदेश है।

२०४ प्रश्न :—परवस्तु के कारण से जीव को हिंसा होती है?

उत्तर ·—नही, अपने कषायभाव से ही हिंसा होती है। परिणामों से

२०५. प्रश्नः—हिंसा मे किसका हनन होता है ?

उत्तर –जीव के अपने चैतन्यप्राण का हनन होता है।

२०६ प्रश्न —क्या दूसरे जीवो का मरण या जीवन यह जीव कर सकता है ?

उत्तर —उनका जीवन-मरण उनकी आयु के आधीन है।

२०७ प्रश्न —हिंसा-अहिंसा का सच्चा स्वरूप कौन जान सकता है ?

उत्तर —जो रागादि और चैतन्यप्राण को भिन्न-भिन्न जानता है।

२०८ प्रश्न —सबसे महान हिंसा कौन सी है ?

उत्तरः–राग और चैतन्य को एक माननेरूप मिथ्यात्व ही सबसे बडी हिंसा है। वही चैतन्यप्राण का हनन करती है।

२०९ प्रश्न —अहिंसा धर्म का मूल स्तम्भ क्या है ?

उत्तर —राग के किसी अश को चैतन्य मे न मिलाना – ऐसा भेदज्ञान ही अहिंसा धर्म का मूल है।

२१० प्रश्न —सर्वज्ञ के ज्ञान मे जीव कैसा ज्ञात हुआ है ?

उत्तर .—सर्वज्ञ ने जीव को सदा उपयोग लक्षणरूप देखा है।

२११ प्रश्न —चैतन्यभाव और रागादिभाव मे क्या अन्तर है ?

उत्तर —प्रकाश और अन्धकार की तरह दोनो ही अत्यन्त भिन्न हैं, एक नही ।

२१२ प्रश्न —जीव का किसमे तन्मयपना है ?

उत्तर —जीव अपने उपयोगस्वरूप मे तन्मय है ।

२१३ प्रश्न —वह उपयोग कैसा है ?

उत्तर —स्वत सिद्ध सत् है, किसी के द्वारा रचित नही है ।

२१४ प्रश्न —उस उपयोग का शुद्ध परिणमन कैसा है ?

उत्तर —वह अहिंसारूप है, धर्म है, मोक्षमार्ग है ।

२१५ प्रश्न —पाँच भावो मे "उपयोग" कौन सा भाव है ?

उत्तर —उपयोग पारिणामिक भाव है ।

२१६ प्रश्नः—उस उपयोग का शुद्ध परिणमन-कौनसा भाव है ?

उत्तर —वह क्षायिकादिभाव रूप है ।

२१७ प्रश्नः—रागादिभाव कौन से भाव हैं ?

उत्तर —रागादिभाव औदयिक भाव हैं ।

२१८ प्रश्न —उपयोग मे कौन-कौन से तत्त्व समाते हैं ?

उत्तर —जीव, सवर, निर्जरा और मोक्ष ।

२१९ प्रश्नः—रागादिभाव मे कौन-कौन से तत्त्व आते हैं ?

उत्तर —आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप ।

२२० प्रश्नः—उपयोग के साथ आत्मा की कैसी व्याप्ति है ?

उत्तर —समव्याप्ति है, दोनो मे से एक हो वहाँ दूसरा होवे ही ।

२२१ प्रश्न:—उपयोग बिना जीव कभी होता है ?
उत्तर —नही ।

२२२ प्रश्न —राग बिना जीव कभी होता है ?
उत्तर —हा ।

२२३ प्रश्न —राग को आत्मा का स्वलक्षण मान लें तो क्या दोष है ?

उत्तर .—राग का नाश होने पर आत्मा के नाश का प्रसग आएगा ।

२२४ प्रश्न :—राग बिना जीव जी सकता है ?
उत्तर ·—हा, सिद्ध भगवन्त राग बिना ही अनन्त सुखी जीवन जीते हैं ।

२२५ प्रश्न :—राग को जीव का लक्षण मानने मे कौन सा दोष है ?

उत्तर :—अव्याप्ति दोष है, ऐसा मानने पर अनन्त सिद्ध और अरिहन्त अजीव ठहरेंगे ।

२२६ प्रश्न :—चारित्र दशा कैसी है ?
उत्तर .–परम शान्त है, उसमे कषाय नही, वीतराग भाव है ?

२२७ प्रश्न —वह चारित्र किसका कारण है ?
उत्तर :—वह स्वर्गके भव का नही, अपितु मोक्ष का कारण है ।

२२८ प्रश्न .—मुनि को छठे गुणस्थान मे कितनी कपायो का अभाव है ?

उत्तर —मुनि की बारह कषाये छूट गई हैं ।

२२९ प्रश्न —अव्रत सम्यग्दृष्टि की कितनी कषाये छूट गई है ?
उत्तर —अनन्तानुबधी की चार कषायें छूट गई हैं ।

२३० प्रश्न :—गृहस्थ को मुनिदशा योग्य चारित्र होता है क्या ?

उत्तर —नही, किन्तु गृहस्थ को मुनिदशा योग्य चारित्र की भावना होती है ।

२३१ प्रश्न —श्रावक के कितने व्रत होते हैं ?

उत्तर :—पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, कुल बारह व्रत होते हैं ।

२३२ प्रश्न :—श्रावक की कितनी प्रतिमा होती हैं ?

उत्तर —ग्यारह होती है । भूमिका प्रमाण एक से लगाकर ग्यारह तक होती हैं ।

२३३ प्रश्न :—जैनमुनि को निर्ग्रन्थ क्यो कहा है ?

उत्तर —जैनमुनि के भावरूप तथा द्रव्यरूप ग्रन्थि नही होती ।

२३४ प्रश्न —हाथी, सिंह आदि तिर्यंचो को सामायिक होती है ?

उत्तर —हाँ, पचम गुणस्थान वाले तिर्यंचो को सामायिक होती है ।

२३५ प्रश्न —तिर्यंच सामायिक कैसे करते होगे ?

उत्तर —उनकी समता भावरूप आत्मपरिणति ही सामायिक है ।

२३६ प्रश्न .—मनुष्यो के कितने गुणस्थान होते है ?

उत्तर :—चौदह ।

२३७ प्रश्न —तिर्यंचो के कितने गुणस्थान होते है ?

उत्तर :—पाँच ।

२३८ प्रश्न —देवो और नारकियो के कितने गुणस्थान होते है ?

उत्तर :—चार ।

२३९ प्रश्न :—जीव की शोभा किसमे है ?

उत्तर :—वीतराग भाव मे जीव की शोभा है, राग मे शोभा नही है ।

२४० प्रश्न :—जिसके देव-गुरु-धर्म खोटे हो, उसको व्रत होते है ?

उत्तर :—नही ।

२४१ प्रश्न —सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् क्या करना चाहिए?

उत्तर —परिणाम की शक्ति अनुसार चारित्र अगीकार करना चाहिए।

२४२ प्रश्न :—अज्ञानी के व्रत-तप मोक्षमार्ग है क्या ?

उत्तर :—नही, वे बालव्रत और बालतप हैं, मोक्षमार्ग कदापि नही ।

२४३ प्रश्न :—धर्मी जीव धन के लिए अन्याय, अनीति, चोरी करेगा ?

उत्तर :—नही ।

२४४ प्रश्न .—सम्यग्दर्शन बिना व्रत-चारित्र होना माने तो ?

उत्तर :—तो उसे जैनधर्म के मोक्षमार्गके क्रम का भी बोध नही हैं।

२४५ प्रश्न :—सम्यग्दर्शन बिना शुभभाव से हित का पथ हाथ मे आ सकता है क्या ?

उत्तर —नही, हित का पथ तो सम्यग्दर्शन से ही हाथ मे आ सकता है ।

२४६ प्रश्न :—परमार्थ व्रत क्या है ?

उत्तर :—जितनी शुद्धता हुई, वह परमार्थ व्रत है ।

२४७ प्रश्न —व्यवहार व्रत क्या है ?

उत्तर :—शुद्धता के साथ होने वाला शुभराग ।

२४८ प्रश्न —सिद्धसुख कैसा है ?

उत्तर '—स्वानुभूति के अलावा अन्य कही उसका नमूना नही है ।

२४९ प्रश्न —सामायिक के समय श्रावक कैसा है ?

उत्तर :—सामायिक के समय श्रावक भी साधु जैसा ही माना गया है ।

२५० प्रश्न —भोजन का काल होने पर श्रावक कैसी भावना करे ?

उत्तर :—मुनिराज पधारे तो पहले उन्हे आहार देकर मैं बाद मे भोजन करूँ ।

२५१ प्रश्न :—धर्मी श्रावक प्रतिदिन क्या करता है ?

उत्तर —प्रतिदिन सामायिक का प्रयोग करता है ।

२५२ प्रश्न :—वह सच्ची सामायिक क्या है ?

उत्तर :—वह वीतरागभाव रूप है और मोक्ष का कारण है ।

२५३ प्रश्न :—सामायिक कैसे होती है ?

उत्तर :—चैतन्यस्वभाव को उपयोग मे स्थिर करके ।

२५४ प्रश्न :—धर्मी श्रावक समाधिमरण करके कहाँ तक जाता है ?

उत्तर :—सोलहवें स्वर्ग तक ।

२५५ प्रश्न —पश्चात् वहाँ से निकलकर क्या करता है ?

उत्तर —मनुष्य होकर मुनि बन कर मोक्ष प्राप्त करता है — यही मंगलमय वीतराग-विज्ञान का फल है ।

—❀—

अपनी सुधि

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो ।
ज्यौं शुक नभचाल विसरि, नलिनी लटकायो ।।टेक।।

चेतन अविरूद्ध शुद्ध, दर्शबोधमय विशुद्ध ।
तजि जड रस–परस–रूप, पुद्‌गल अपनायो ।।१।।

इन्द्रिय सुख-दुख मे नित्त, पाग राग-रुष मे चित्त ।
दायक भवविपति वृन्द, बन्ध को बढायो ।।२।।

चाह–दाह दाहै, त्यागो न ताह चाहै ।
समता–सुधा न गाहै, जिन निकट जो बतायो ।।३।।

मानुषभव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय ।
'दौल' निजस्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायो ।।४।।

– कविवर पण्डित दौलतराम

हमारे यहां उपलब्ध प्रकाशन

पुस्तक		रु० पै०
समयसार/प्रवचनसार		२०—००
नियमसार/पञ्चास्तिकाय सग्रह		१०—००
समयसार नाटक/मोक्षमार्गप्रकाशक		१०—००
प्रवचनरत्नाकर भाग १ या २ या ३ या ४ या ५		१०—००
आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पच परमागम		५—००
ज्ञानगोष्ठी		[illegible]—००
भक्तामर प्रवचन		४—५०
श्रावकधर्मप्रकाश		५—५०
चिद्विलास		३—५०
पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृ		११—००
सिद्धचक्र विधान		६—००
बारह भावना एक अनुशीलन		५—००
अहिंसा महावीर की दृष्टि मे (हिन्दी, अग्रेजी)		१—२५
जिनवरस्य नयचक्रम्	साधारण	४—००
क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गु , म , क , त)	साधारण	३—००
धर्म के दशलक्षण (हि , गु , म , क त अ)	साधारण	४—००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ (हि , गु , म क , अ)		६—००
सत्य की खोज [कथानक] (हि , गु , म , क , त)	साधारण	४—००
मैं कौन हू ?		१—२५
कुन्दकुन्द शतक		१—००
परमार्थवचनिका प्रवचन		२—००
अद्वितीय चक्षु		१—००
लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका		१—००
छहढाला (सचित्र)		४—००
बृहद् जिनवाणी सग्रह		६—००
वीर हिमाचल तै निकसी		१—००
जिनेन्द्र अर्चना (पूजन सग्रह)		४—५०
चौसठ ऋद्धिविधान		२—५०
चैतन्य चमत्कार		१—००
गोम्मटेश्वर बाहुबली		०—४०
बालबोध पाठमाला भाग १ (हि , गु , म , क , त)		०—७०
बालबोध पाठमाला भाग २ या ३ (हि , गु , म , क , त)		१—००
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हि गु म)		१—००
वीतराग विज्ञान पाठमाला भाग २ ३ (हि गु)		१—२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती)		१—२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती)		१—४०